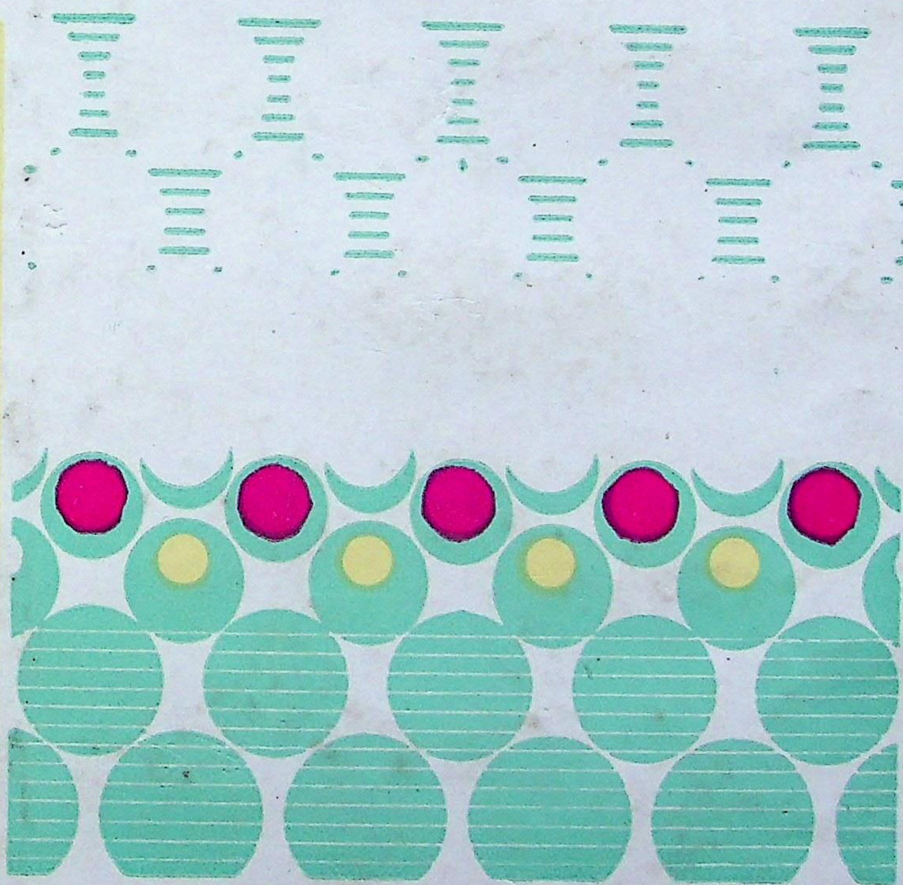
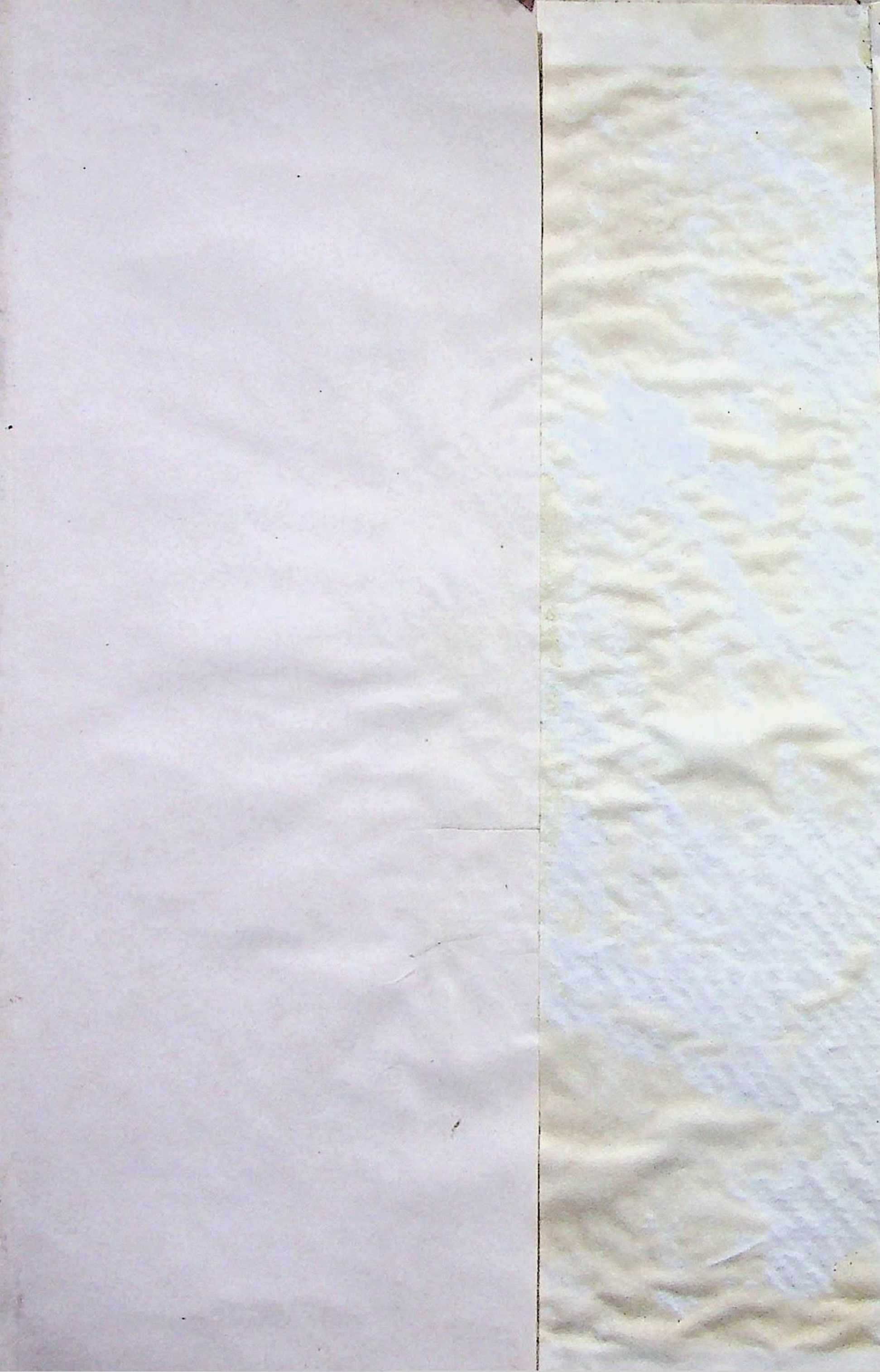
हमारा साहित्य

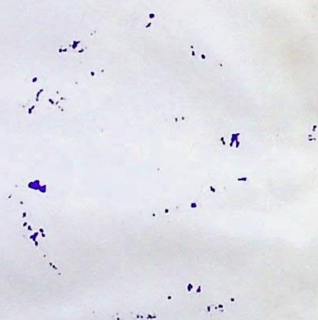


जे० एंड के०
अकादमी ऑफ आर्ट, कल्चर एंड लैंग्वेजिज़, जम्मू



हमारा साहित्य

1990-1991



हमारा साहित्य

1990-1991

जम्मू की लोककलाएं

संपादक

डॉ० उषा व्यास



जे० एंड के० अकादमी ऑफ आर्ट कलचर एंड लैंग्वेजिज़, जम्मू



प्रकाशक—सेक्रेटरी जे० एंड के० अकादमी आफ आर्ट कल्चर एंड लैंग्वेजिज,
जम्मू ।

प्रथम संस्करण—फरवरी 1995

मूल्य : 24/- रुपये

मुद्रक—रोहिणी प्रिंटर्ज़, कोट किशन चंद, जालंधर ।

Hamara Sahitya 1990-1991 On Dogri Folk Arts

Edited by : Dr. USHA VYAS

भीतरी पन्नों पर—

आमुख–

हमारे प्रकाशन अपनी समृद्ध परम्परा में जम्मू-कश्मीर राज्य की कला संस्कृति तथा साहित्य से जुड़ी रंगारंग रचनात्मक गतिविधियों को प्रतिबिम्बित करते आए हैं। जम्मू की लोककलाओं पर केन्द्रित 'हमारा साहित्य' का प्रस्तुत अंक भी हमारे उन्हीं प्रयासों का एक अन्य रूपायन है।

सदियों के अंतराल एवं तमाम वर्तमान तकनीकी उपलब्धियों के बावजूद लोककलाएं अपनी सत्ता बनाये रखने में समर्थ बनी हुई हैं। इन कालजयी लोककलाओं का उत्स 'लोक' है, जनमानस ! जहां की मिट्टी और संस्कार, उसके अपने सुख-दुख, और हृदय से जुड़ी उसकी संवेदनाएं परिवेश की उपज मात्र नहीं अपितु परिवेश में आत्मा के सदृश व्याप्त हैं। निरन्तर बदलाव की नैसर्गिक प्रक्रिया में मानव मन की रागात्मक प्रवृत्तियां भी कमोवेश वही हैं। और फिर...जब तक प्रकृति है, मनुष्य का संवाद इससे पृथक् नहीं हो सकता।

भारत के लोकमानस की उत्सवधर्मिता पर्वों, त्योहारों, मांगलिक अवसरों एवं संस्कारों के समय अपने मूल उत्स की ओर अभिमुख होती आयी है। ऐसे में लोककलाओं की विविधवर्णी छटाओं में उसके प्राणों का स्पन्दन सहज ही अनुभूत किया जा सकता है।

इस संदर्भ में कहना न होगा कि हर परिप्रेक्ष्य में सहज स्वाभाविक विशिष्टता लिये जम्मू अंचल की लोककलाओं की मार्मिक मोहकता स्वयं अपने आप में एक आख्यान है। जिसकी झलक के साथ-साथ आप इस अंक में कलामर्मज्ञ विद्वान लेखकों का मौलिक चिंतन भी पायेंगे।

अन्य अपेक्षित आलेख जो हमें समय पर उपलब्ध नहीं हो पाये उन्हें हम आगामी प्रकाशनों द्वारा अवश्य आप तक पहुंचाना चाहेंगे।

हमारी आशा है कि रोचकता एवं उपयोगिता की दृष्टि से हमारा यह उपक्रम सार्थक सिद्ध होगा।

आपके सुझाव ! हमारी प्रतीक्षा।



सांस्कृतिक धरातल पर उभरती लोक कलाएं

□ डॉ० अशोक जेरथ

मनुष्य अदम्य ऊर्जा का स्रोत है। यह ऊर्जा अभिव्यक्ति चाहती है। जो इसे सुचारू रूप से अभिव्यक्त कर पाते हैं वे कवि, साहित्यकार, रंगकर्मी, चित्रकार मूर्तिकार, संगीतज्ञ या मोटे तौर पर हम कहें तो कलाकार हो जाते है। यह अभिव्यक्ति सम्प्रेषण के माध्यम चाहती है। संकेत चिन्ह, प्रतीक, हाव-भाव, आवाज़ आदि संप्रेषण के वाहक हैं। संप्रेषण के जिन माध्यमों को या ऐसा कहें कि वाहकों को आज हम इतना सहज लेते हैं वे कभी अपने आरम्भिक विकास के दिनों में अति चमत्कारी रहे होंगे। आज हम विश्लेषण कर सकते हैं कि यदि संप्रेषण के माध्यम विकसित न होते तो भाषा का आधार लिपि न होती, आवाज़ के विभिन्न स्वरूप न होते, प्रतीक चिन्ह नहीं होते तो हमारा जीवन कैसा होता ? विकसित तथा निकासोन्मुख संप्रेषण के वाहकों ने इन्सान के जीवन को कितना सुगम, सहज और सुखमय बना दिया है उसकी कल्पना वही कर सकता है जिसे ये उपलब्ध नहीं। सभ्यता के चरमोन्मुख विकास में इनका योगदान सर्वोपरि रहा है। एक दंतकथा प्रचलित है कि किसी ने अपने नौकर को सुस्वादु फलों की टोकरी देकर अपने संबंधी के पास भेजा। नौकर को एक चिट्ठी दी गई और कहा गया कि यह एक ऐसी चीज है जिस की आंखें हैं और यह तुम्हारी सारी यात्रा के दौरान तुम्हें देखती रहेगी, इसलिए भूल से भी इन फलों को चखना नहीं। नौकर चल पड़ा। फलों की सुरभित गंध उसे विचलित करने लगी। लम्बी यात्रा के दौरान उसे भूख लग रही थी पर यह वस्तु, जो उसकी निगरानी कर रही थी, इसका क्या करे ? बहुत सोचा तो उसे एक उपाय सूझा, उसने इस चिट्ठी को रेत में दबाकर खूब ढक दिया कि वह उसे देख न ले और फिर खूब छक कर फल खाये, हाथ साफ किए, टोकरी को बांधा और पूरी तरह से इत्मीनान कर लिया कि फल खाने का कोई चिह्न तो नहीं ? फिर रेत को हटाकर चिट्ठी निकाली। मन ही मन अति सन्तुष्ट होकर अपने लक्ष्य की ओर चल पड़ा। वह पूर्णतया आश्वस्त था कि उस की इस चालाकी को

कोई भी भांप नहीं सकेगा। गन्तव्य स्थान पर पहुंच कर उसने फलों की टोकरी और चिट्ठी मालिक को दी। उसने जब चिट्ठी खोल कर फलों को गिना तो उसमें कई फल कम थे। उसने नौकर से पूछा कि उन फलों का क्या हुआ तो नौकर के चेहरे पर आश्चर्य के चिह्न उभर आए इसलिए कि रेत में दबाने के बाद भी यह कागज़ का टुकड़ा उस के सारे कार्यकलाप को कैसे देखता रहा था ? है न अद्भुत बात ! पर हमारे लिए यह अति साधारण बात हो चुकी है।

विकास की पहली सीढ़ी में सभ्यताओं ने निश्चय ही इन प्रतीक चिह्नों को खोजा होगा। भाषा की लिपि ने सदियों के इतिहास को बांध दिया। हज़ारों, सैंकड़ों मीलों की दूरियों को कम कर दिया। आवाज़, नाद, और संकेतों को लिखित रूप में परिवर्तित कर इन का संरक्षण किया। शायद यही कला का प्रथम सशक्त सोपान रहा होगा—यही प्रतीक चिह्न व्यक्ति, समाज एवं समुदाय के विकास में मार्गदर्शक रहे होंगे। कितना अद्भुत है आवाज को आकृतियों में बंद करना और फिर उन्हें आवाज़ में परिवर्तित करना।

चीनी भाषा की लिपि तो और भी अद्भुत है—संसार की लगभग सभी अजीवी वस्तुओं को उन्होंने प्रतीकों में बांध रखा है। जल का प्रतीक चिह्न ऐसा है कि उस एक चिह्न के अनेक नाद, स्वरूप मिलते हैं। वह जल है पर हर चीनी उप भाषा में उसकी अभिव्यक्ति और होगी। वस्तुतः यह चित्र लिपि कही जाती है।

हजारों वर्ष पूर्व इन्सान ने इन प्रतीक चिह्नों का विकास किया होगा। यूरोप, अमेरिका और एशिया महाद्वीपों में हजारों वर्षों से चित्रित शैलाश्रय खोजे गए हैं। उत्तरी यूरोपीय अनेक देशों में जब बर्फ की तहें जमी थीं, तब यह कला अपने चरम पर पहुंचना चाहती थी। दक्षिण पश्चिम फ्रांस, स्पेन व इटली की गुहाओं में रंगीन एवं चट्टानों पर उकेरे गए, बहुविद चित्र मिले हैं। इन चित्रों की तिथि 19000 वर्ष से लेकर 25000 वर्ष पहले तक की निकाली गई है। इन शैल चित्रों का सूत्र एरिथंज के त्रोया फ्रैरे नामक स्थान पर पाई जाने वाली चट्टानों पर काले रंग से चित्रित एक नृत्यरत आकृति है जिसने मुखौटा पहन रखा है। जिस पर बारहसिंघा के सींग उभरे हैं। उसने शरीर पर भेड़ की खाल ओढ़ी हुई है जिसकी बड़ी मोटी झबरी दुम है। इसे तांत्रिक नृत्य की संज्ञा दी गई है।

आदिमानव की इस कला के रहस्य को जानने के लिये आस्ट्रेलियन जन-जातियों के सामाजिक अनुष्ठानों में जाकर देखना होगा। इन लोगों की कला मनोरंजन, के लिये अथवा आत्माभिव्यक्ति के लिए नहीं बल्कि अनुष्ठानों एवं पर्वों की आवश्यक कड़ी है जो जन्म, मृत्यु एवं विकास की अभिव्यक्ति के साथ-साथ दुरात्माओं को भगाने का प्रतीक एवं साधन रही है। अक्सर वहां ऐसे

अनुष्ठान किये जाते हैं जिनमें स्वांग, नृत्य एवं लोकोक्तियों की अभिव्यक्ति केन्द्रीय इकाई रहती है। आदि मानव शिकार की सफलता पर जीवित था। खाने और पहनने की आवश्यकताओं को अपने बेढंगे, शस्त्रों के साथ पूरा करने की चिन्ता उसे सताए रहती थी, इन शस्त्रों के प्रयोग के साथ-साथ वह अति मानवीय शक्तियों के आह्वान के लिए जादू, टोनों का प्रयोग करता था। वे जानवर जो उसके सीधे दुश्मन थे, या जिन्हें आमने-सामने मारना कठिन था, वे इन चट्टानों पर उकेरे या चित्रित किये गये। पौधे और कीट जिनसे उस का सरोकार नहीं था उनका चित्रण न्यूनतम हुआ है। थिरकते पांव और मुखौटे लगाये नृत्यरत मानवीय आकृतियां इन अनुष्ठानों का एक हिस्सा होती थीं।

वस्तुत: यही दो मनोभाव थे जिनके आधार पर लोक कला जन्मी, पनपी या जिनके प्रति मानवीय खोज अधूरी रही है। मनुष्य कौतूहलपूर्ण स्थितियों में उस को देखने का आदी रहा है। वे अभिप्राय इन लोक कलाकृतियों में उभरे जिनके प्रति वह श्रद्धा से नतमस्तक हो जाता है। विश्व भर का मानवीय कौतूहल नाग के प्रति रहा है। अनेक कारणों से वह उसके रहस्य को समझ नहीं पाया है। उसके लिजलिजे शरीर, भेदती आंखें, मानवीय आकार ग्रहण करता उस का 'हुड' अथवा फण यह सभी कुछ इन्सान के लिए अति रहस्यात्मक रहे हैं। अत: उस के रहस्यात्मक स्वरूप से आतंकित भोला-भाला ग्रामीण अंचल का व्यक्ति स्वत: ही उसकी रहस्यात्मक शक्ति की ओर झुक जाता है। यही कारण है कि चश्मों, मन्दिरों के चौखम्बों, देहरियों आदि पर इनकी आकृतियां, अर्ध-मूर्तियां एवं तस्वीरें लोक कला के प्रमुख अभिप्राय के रूप में उभर कर आईं। विश्व भर की सभ्यताएं भारतीय धरातल पर पनपीं। चाहे वह सिंधु घाटी की सभ्यता हो, अथवा लघु एशिया में पनपी नील घाटी या दजला फरात तथा मेसोपेटामिया की सभ्यता हो या सुदूर दक्षिणी अमेरिका में उभरी 'इन्को' सभ्यता, उनमें कुण्डली मारे नागों की आकृतियां सहज ही दिख जाएंगी।

नाग के अभिप्राय से पूरी मानवीय संस्कृति इतनी पोषित है कि लोक साहित्य में इनकी गाथाएं और कौतूहलपूर्ण कथाओं का बहुत प्रचलन है। जम्मू प्रदेश में एक जाति विशेष 'सपोलिया' अपने को इस का वंशज मानती है। सांप के दिख जाने से इनकी औरतें श्रद्धावनत हो जाती हैं। इन्हें अग्रज की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। इसी प्रकार ग्रामीण अंचल में अक्खड़ देवता, बोला देवता, आदि कि कहानियां प्रचलित हैं। इसे भूदेव, जीवन में सुख समृद्धि देने वाला और सन्तानदायी समझ कर इस की पूजा की जाती है। वस्तुत: धार्मिक आस्थाओं, विश्वासों और अटूट श्रद्धा के परिणामस्वरूप लोक कलाएं जन्मीं। वृक्ष को देव तुल्य मानकर पूजा करना, पर्वतीय श्रृंखलाओं को ईश्वरीय शक्ति का प्रतीक मानकर उन से ऊर्जा ग्रहण करना और उन की असीम

शक्ति के प्रति नत मस्तक होकर नृत्य करना, संगीत से भाव विभोर होकर थिरक उठना, सभी क्रियाएं उन की आस्थाओं की प्रतीक हैं। हवा का प्रचंड वेग, अग्नि की प्रखर गरिमा, सूर्य का ताप, चन्द्र की ज्योतसना, महासागर की तरंगों का हहराना आदि मानवीय अनुभूतियों के लिये कौतूहलपूर्ण स्थितियां स्थापित करते रहे हैं। इन सभी की अभिव्यक्ति आदि मानव पर्वों, त्योहारों और अनुष्ठानों के माध्यम से करता रहा है। ये सभी पर्व त्योहार एवं अनुष्ठान उनकी लोक संस्कृति से जुड़ गए। इन्हीं की अभिव्यक्ति लोक कलाओं में भी मुखरित हुई। चाहे वह पत्थरों पर उकेरे गए प्रतीक ही थे। शैलाश्रयों पर रंगों द्वारा सजाये गये प्रतीक मुखरित सूर्य, ज्योतसना, विधाता, चन्द्र, अपनी पंखुड़ियों को खोले अभिनन्दन करता कमल एवं अनेक जल जन्तु जो आदि मानव के भोलेपन को प्रभावित करते रहे हैं इन लोक कलाओं में मुखरित थे।

प्रतीक मानवीय संवेदनाओं के उत्स में रहे हैं। यही उनकी अभिव्यक्ति का आधार भी रहा। यही प्रतीक सदियों के अन्तराल को पार कर आज भी जन-सामान्य की उंगलियों के पोरों, उनकी छेनियों एवं उनकी मानसिक ऊहापोहों में स्थित होकर रह गए। इस प्रकार हम देखते हैं कि नाग, सहस्रपदी जंतु, हाथ और कहीं-कहीं पर जलजन्तु जलपरियां, जलमानक परियां, बौने आदि कौतूहलपूर्ण स्थितियों के परिचायक के रूप में भित्तियों, चश्मों के पत्थरों, घर आंगन की सज्जा में मुखरित हुए। आरम्भिक दौर में ये मात्र मानवीय मनोविज्ञान के उत्स में विचरते थे पर कालांतर में ये सज्जा के प्रतीक के रूप में उभरे। बाद में अनेक पौराणिक प्रतीक देवी-देवताओं के रूप श्रद्धा के पात्र बने। भारत में विष्णु के अनेक रूप, शक्ति के स्वरूप तो उभरे ही साथ-साथ स्थानीय देवी-देवता मसलन पहाड़ी क्षेत्रों के नाग के अनेक रूप, गुमलू देवता, चंग देवता, बोला देव, अक्खड़ देव, शेषनाग, पंचनाग, वासुकी, भैड़, सुरगल, समुद्र, जलसर, कौसर आदि नामों से संज्ञायित अनेक दूसरे देवता जैसे मंडलीक, कालीवीर, सिद्ध गौरिया आदि भी उभर कर सामने आए। दूसरे देवी देवताओं में सांकरी देवता, सोपौर देवता, महाशिव के अनेक रूप पातालेश्वर, नागेश्वर, भुवनेश्वर, सोमेश्वर, ग्वल देवता आदि भी सामने आए। इन देवी-देवताओं के प्रतीक समय-समय पर लोक कला के माध्यम बने। प्राकृतिक जीवन से इन्सान ने नदियों की लहरों, दरियाओं के बहावों, वल्लरियों, फूल पौधों से आकार और रेखाएं ग्रहण कीं तो सूखे फूलों से ज्यामितीय आकार। वनस्पतियों से लिये गये रंगों के विभिन्न रूप मसलन पीले फूलों की पंखुड़ियों को पीस कर पीला रंग, लाल पंखुड़ियों से सुर्ख, हरे पत्तों से हरा रंग आदि प्रयोग किया जाने लगा, गेहूं या चावलों के घोल से सफेद रंग तथा अनेक खनिजों जैसे चूने से सफेद, लाल मिट्टी से लाल, दीपक की लौ से

कार्बन अर्थात् काला रंग तैयार किया जाने लगा । कालांतर में इस दिशा में अनेक प्रयोग हुए । कुछ लोगों ने प्रयोग धर्मिता को स्रोत माना और इस प्रकार कला का रचनात्मक रूप निखरने लगा । लोक-चित्रकला ने अनेक प्रतीक, नमूने, ललित कलाओं को दिए हैं। लोक-संगीत की अनेक धुनें ललित संगीत में मिलकर चर्चित और लोकप्रिय हुई हैं। लोक कलाएं अपने आप में पूरी हैं। वे देना जानती हैं लेना नहीं। लोक मूर्तिकला अपने चरम पर पहुंच कर ललित कला में परिवर्तित हो जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि लोककला ललित कला की जननी है जो लोक व्यवहार से प्रतीक चिह्नों, रंगों की व्यवस्था, लोक आस्थाओं और विश्वासों को दर्शाती है। जहां लोककला का उत्स स्वच्छन्द मानवीय व्यवहार में तलाशा जा सकता है वहीं ललित कलाएं अक्सर कुंठित मन की उपज हैं। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रायड और गस्ताफ युंग ने इस ओर संकेत किए है। फ्रायड तो यहां तक कहते हैं कि जब व्यक्ति मनोवैज्ञानिक रूप से अनेक वैयक्तिक, बाह्य आंतरिक दबावों तथा कुण्ठाओं से लिप्त होता है तो वह अव्यावहारिक हो जाता है। वह प्रतिक्रिया स्वरूप अभिव्यक्ति का धरातल खोजता है जिसे वह साहित्य, संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्य आदि के रूप में पाता है। फ्रायड इसे 'न्यू टिक विहेवियर' की संज्ञा देते हैं। उनके अनुसार बचपन से ही सामाजिक दीर्घाओं की आचार संहिता से दबे रचनात्मक मन करवट लेना चाहते हैं। वे बचपन से लीपा-पोती, तोड़-फोड़, शब्दों की टंकार से सुप्त सुरों को जगाते रहते हैं और समय पाकर साहित्यकार, चित्रकार, संगीतकार हो जाते हैं। उनके अनुसार कोई भी सामान्य व्यक्ति जिसे बहुत स्वच्छन्द वातावरण मिला हो और अपनी ऐच्छिक अभिव्यक्ति कर सका हो। वह कलाकार नहीं हो सकता। क्योंकि उसमें कोई कुण्ठा व्याप्त नहीं या ऐसा कहा जाए कि वह प्रतिक्रिया स्वरूप कोई ऊर्जा नहीं पाता है। वह लोक कलाकार हो सकता है ललित कलाकार नहीं। लेकिन लोक कला की अपनी सीमाएं भी हैं। इन पर हुए बाहरी दबाव से इन्कार नहीं किया जा सकता। अक्सर लोक कलाकार आजीविका के लिए अनेक संस्थानों पर निर्भर रहते हैं। क्योंकि सामंती व्यवस्था ने आम आदमी को सदियों तक प्रभावित किया है। लोक कलाकार इस समस्या से अछूते नहीं रहे। अक्सर उन्हें अपनी आर्थिक अवस्था के सन्तुलन के लिए इनकी ओर ताकना पड़ता है। चश्मों को सजाने के लिए पर्वतीय अंचलों में राजे-रजवाड़े इन लोक कलाकारों को अपनी रुचि के अनुसार चलाते रहे हैं। अनेक इष्ट देवता, स्थानीय देवी-देवता और कहीं-कहीं पर राजाओं, रजवाड़ों और जमींदारों के चित्र पत्थरों पर उकेरे गए हैं। सामंती व्यवस्था का एक ज्वलंत उदाहरण कुमांऊ-गढ़वाल में प्रचलित 'हुड़किया' बोल हैं। जमींदार लोग किसानों, खेतों में कार्यरत लोगों को एक विशेष समय में खेत की, रोपाई-

बोआई खत्म करने के लिये बाध्य करते थे। यदि वह ऐसा न कर पाते तो उन्हें शाम का खाना नसीब नहीं होता था। अतः कार्य को ठीक तथा समय पर करने के लिए 'हुड़किया' बोल नामक श्रम गीतों का निर्माण हुआ। इसमें एक व्यक्ति हुड़के (एक तरह की डफली) पर थाप देकर हुंकार भर कर अन्तरा बोलता है बाकी सब उसकी लय पर कार्य करते हुए सामूहिक हुंकार भरते हैं इससे एक जीवंत वातावरण तैयार हो जाता है थकावट दूर हो जाती है और वे समय पर कार्य करने में सक्षम हो जाते हैं। इन लोक कलाकारों का शोषण भी खूब होता रहा है। अनेक बार अपना कार्य खत्म हो जाने पर वे पारिश्रमिक नहीं पा सके। पर इसकी प्रतिक्रिया वे अपने ढंग से व्यक्त करते रहे हैं। रामनगर में एक तालाब की सीढ़ियों को सजाने के लिये कुछ लोक कलाकारों को अनुबंधित किया गया। कार्य खत्म हो जाने पर साहूकार उन्हें टालता रहा। जब भी वे उसके पास जाकर पैसे मांगते वह बहाने से टाल देता। तंग आकर उन्होंने सर खुजलाते हुए साहुकार की आकृति इन सीढ़ियों पर उकेर दी। वह घबराया और उसे ठीक करने की मिन्नत करने लगा और इस तरह वे अपना पारिश्रमिक पाने में सफल हो सके।

लोककला संग्रह, पुरानी अनुपलब्ध वस्तुओं को संकलित कर ऊंचे दाम में बेचने का व्यवसाय चल पड़ा है। अक्सर लोग पुरानी लोक-कृतियों को एकत्रित कर उन्हें स्मृतिघरों, अजायबघरों, कला दीर्घाओं को ऊंचे दामों बेचने लगे हैं। कुछ लोग तो उनकी अनुकृतियां बनाकर दो चार साल अपने पास रख कर पुराना कर बेचने लगे हैं। परिणामतः कला की गरिमा पीछे छूट गई है और पैसा तथा व्यवसाय आगे बढ़ आए हैं। लोकधुनों को चुराकर पाश्चात्य संगीत के साथ मिला कर करिश्मा करने का चलन फिल्म जगत में खूब हो गया है। यहां तक कि लोक गीतों के गायन में संगीत के लिए पाश्चात्य वाद्य यन्त्रों का प्रयोग इनके दमन का एक मुख्य मुद्दा बन गया है। लोकगीतों को संकलित कर पुस्तकों के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। क्या इससे इनकी आत्मा का हनन नहीं हो रहा ? लोकसंगीत स्वच्छन्द मुखरित वातावरण चाहती है पर पैसे तथा लाभ की होड़ में इसकी क्षति हो रही है।

लोक कलाकारों की आजीविकाएं खत्म हो गई हैं। उनके संरक्षक नहीं रहे। परिणामतः वे लुप्त प्रायः होकर रह गए हैं। □

पहाड़ी रूमाल तथा चोलियां

□ श्रीमति वीणा

पहाड़ी कलात्मक रूमाल एवं चोलियां अपनी कढ़ाई के कारण विश्व प्रसिद्ध हैं। नाड़ के कलात्मक कार्य की तरह पहाड़ी रूमाल भी अपना सानी नहीं रखते। इन पहाड़ी रूमालों को सिर पर बांधने के लिए महिलायें इस्तेमाल करती हैं। काम करते हुए बालों को व्यवस्थित करने और ज़्यादा शारीरिक मेहनत से होने वाली थकान रोकने में इन रूमालों का मुख्य उपयोग होता था। कालान्तर में सज्जा एवं कलात्मक रूप निखरने लगे और सुन्दर से सुन्दरतर कढ़ाई किए हुए रूमालों का प्रचलन शुरू हुआ। इन पहाड़ी रूमालों में बसोहली एवं चम्बा के रूमाल जगत प्रसिद्ध हुए और इन्हें अनेक कलादीर्घाओं में प्रदर्शित किया जाने लगा। उधमपुर, बसोहली, कांगड़ा और चम्बा के पहाड़ी क्षेत्रों में रहने वाली महिलायें आज भी इन रूमालों का उपयोग सिर ढकने के लिए करती हैं। ये रूमाल अति सादे होते हैं—कपड़े के चौकोर टुकड़े। ये चौकोर टुकड़े धीरे-धीरे विविध और कलात्मक होने लगे। तीज त्योहारों एवं पर्वों, उत्सवों पर बहुरंगी रूमालों का प्रचलन शुरू हुआ। ब्याह शादियों एवं दूसरे अनुष्ठानों पर कढ़ाई किए हुए रूमाल उपयोग में लाए जाने लगे।

कहा जाता है कि इन रूमालों का उद्‌गम स्थान चम्बा था। वस्तुत: पहाड़ी कलम की तरह इन रूमालों की परम्परा बसोहली से ही शुरू हुई। जहां से यह पहाड़ी कलम की ही तरह अनेक पहाड़ी रियासतों—बसोहली, भड्डू, मनकोट, बिलावर, जम्मू, चम्बा, कांगड़ा, बिलासपुर कुल्लू, मण्डी आदि में फैली किन्तु आज यह परम्परा चम्बा, बनी एवं उधमपुर के पहाड़ी क्षेत्रों को छोड़कर धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही है पुराने कलात्मक रूमालों में से अनेक विश्व की कला दीर्घाओं में उनकी शोभा बढ़ा रहे हैं। एक चम्बा (साऊथ कंसिंघटन) कलादीर्घा में प्रदर्शित है। ऐसा कहा जा सकता है कि यह रूमाल बसोहली से लगभग 1782 ई० में चम्बा के राजा राज सिंह द्वारा बसोहली से

लूटे गए दूसरे सामान के साथ चम्बा लाया गया था इसी प्रकार एक और सुन्दर कलात्मक रूमाल बड़ौदा की कलादीर्घा में संग्रहित है । ये पहाड़ी रूमाल विभिन्न नापों के हल्के रंगीन टुकड़ों पर कढ़ाई करके बनाए गए हैं ।

पहाड़ी रूमाल की कढ़ाई में अनेक विषय चुने जाते रहे हैं । फूल-पत्ती बेल-बूटे ज्यामितीय आकार, विभिन्न डिज़ाइनों के साथ-साथ रासलीला, कृष्ण लीला, भागवत पुराण की कथायें, प्रचलित लोक कथायें एवं रोमांस के क्षणों को भी रंगीन धागों के माध्यम से इन रूमालों में चितेरा जाता रहा है । इनके अलावा रोज़मर्रा की वस्तुओं की कढ़ाई एवं डिज़ाइन भी इन रूमालों पर बनाये जाते हैं ।

ये रूमाल मुख्यत: दो प्रकार के होते हैं । एक वे जो सिर पर बांधने के लिए उपयोग किए जाते हैं और दूसरे वे जो भेंट स्वरूप दिए जाते हैं । पहली तरह के रूमाल सादे, कम कढ़ाई वाले और हल्के रंगों के होते हैं । अनुष्ठानों और पर्वों पर पहने जाने वाले रूमाल सुन्दर चमकीले रंगों से सजे होते हैं ।

दूसरी प्रकार के रूमाल रेशमी तथा सुनहरी रंगीन धागों से कढ़े होते हैं । इन रूमालों का कपड़ा रेशमी अथवा मुलायम सूती होता है । रेशमी कपड़ों को निर्धारित टुकड़ों में काट लिया जाता है । इन्हें दोनों ओर से काढ़ा जाता है । ताकि इनका प्रयोग दोनों ओर से किया जा सके और कोनों पर बार्डर रेखायें बनाने से रूमाल की खूब सज्जा हो जाती है । आकारों और हाशिए को काढ़ने के लिए अलग-अलग प्रकार के रंगीन धागों का प्रयोग किया जाता है । अक्सर सूती और रेशमी धागों का प्रयोग अधिकतर रहता था जिन्हें घर पर ही रंगा जाता था । प्रमुख रंग बबूल के फूलों, दीपक के काजल, केसर तथा बसूटी नामक पौधे से बनाए जाते थे । ये रंग पीले, काले, केसरिया तथा सुर्ख होते थे । इन्हें मिलाकर दूसरे रंग तैयार किए जाते थे, इन रूमालों को कलात्मक बनाकर भेंट के स्वरूप दिया जाता रहा है । कहीं-कहीं पर पहाड़ों में आज भी ब्याह शादियों के अवसर पर सूखे मेवे के थाल ढकने के लिए ये रूमाल भेंट किये जाते हैं । बहुत अमीर परिवारों में तिल्ले के धागों से भी इन रूमालों को काढ़ा जाता रहा है । ऐसे दो सजावटी रूमाल जम्मू की डोगरा आर्ट गैलरी में भी प्रदर्शित हैं पहला रूमाल हल्के लाल रंग के रेशमी कपड़े का है । जो चौकोर नाप में 9 इंच चौड़ाई और 9 इंच लम्बाई का है । पूरे रूमाल को धागों के माध्यम से चौकोरों में बांटा गया है । हरेक चौकोर को फिर धागे से चार चौकोर में बांटा गया है । इस प्रकार कुल सोलह चौकोर बनते हैं । हरेक चौकोर में एक ज्यामितीय फूल काढ़ा गया है । जो सुनहरी तिल्ले की आभा बनाए है । सुनहरी धागे के साथ-साथ नीले तथा हरे रंगों का भी प्रयोग किया गया है । इसके हाशिये को भी बहुत सुन्दर ढंग से काढ़ा गया है ।

दूसरा रूमाल हल्के पीले रंग के रेशमी कपड़े का है। इसका नाप काफी बड़ा है 3 फुट × 3 फुट। इसके हाशिए पर सरकती बेलें और पत्तियां बनाई गई हैं, पत्तियां हरे रंग की और फूल सुर्ख पंखुड़ियां लिए हैं। दूसरा हाशिया पीले रग की सादी रेखा जैसा है। तीसरा हाशिया जामुनी रंग का सादी रेखा के रूप में है। इस रूमाल के प्रत्येक कोने में ज्यामितीय आकार के एक चौथाई बड़े फूल काढ़े गए हैं। जिन्हें अनेक रंगीन धागों से सजाया गया है। लाल पंखुड़ियां पीले और हरे शेड लिए हुए हैं। हरेक फूल के केन्द्र में गोलाकार बिन्दु बनाए गए हैं। हरेक कोने में दो तोतों का जोड़ा एक दूसरे की ओर मुंह किए काढ़ा गया है। ये तोते हरे रंग के हैं पर इनकी चोंच और पंख सुर्ख रंग के धागों से बनाए गए हैं। रूमाल के केन्द्र में आठ पंखुड़ियों वाला एक बहुत बड़ा फूल काढ़ा गया है। ये पंखुड़ियां सुर्ख रंग लिए हैं और जामुनी रंग से इनको सजाया किया गया है। हरेक सुर्ख पंखुड़ी हरी पंखुड़ी से अलग की गई है। रूमाल की चार दिशाओं में एक-एक मनका सिल दिया गया है। फूल का केन्द्र पीले और हरे वृत्तों से सजा है। फूल के घेरे पर रेशमी धागों से बेलबूटे काढ़े गए हैं जिन पर फूल पत्तियां सजी हैं।

पहाड़ी चोलियां—पहाड़ी रूमालों की तरह ही चोलियां भी अपने कलात्मक सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध रही हैं। इन्हें रेशमी कपड़ों से बनाया जाता था। फिर विभिन्न रंगीन धागों से इन्हें काढ़ा जाता था। अक्सर ये चोलियां पीछे से खाली होतीं और इन्हें डोरों से पीठ पर बांधा जाता था। आगे के हिस्से अति कलात्मक होते थे। उरोजों को ढकते कपनुमा हिस्सों को अनेक फूलों, ज्यामितीय आकारों और बेलबूटों से सजाया जाता था। कई बार अनेक प्रकार के मनके सितारे और गोलाकार छोटे-छोटे शीशों को भी टांका जाता था। तिल्ले, रेशमी धागों और अबरक के टुकड़ों से इनकी शोभा खूब बढ़ जाती थी। इन कलात्मक चोलियों का प्रचलन विशेष तौर पर, राजघरानों रजवाड़ों में खूब होता था। पीठ की ओर से खुली चोलियों का प्रचलन आम नहीं था कदाचित् नितान्त एकान्त के क्षणों में इनका उपयोग आकर्षण, शारीरिक सौन्दर्य तथा मांसलता दर्शाने के लिए ही होता रहा होगा।

रूमालों की सजावट तो कुछ कठिन न थी पर चोलियों पर फुलकारी और अत्याधिक कशीदाकारी न केवल कठिन कार्य था अपितु बहुत समय लेता था। रेशमी कपड़ों से पहले इन्हें आकार देकर सिया जाता था। फिर उरोजों के लिए कप बनाए जाते थे और बाद में इन्हें सजाया जाता था। ऐसी कई चोलियां अपनी कशीदा-कारी के कारण प्रसिद्ध हुईं। डोगरा आर्ट गैलरी की दीर्घाओं में ऐसी अनेक कशीदाकारी से सज्जित चोलियां प्रदर्शित हैं।

पहली चोली बिना पीठ के मुलायम रेशमी कपड़े आधी बाजू की चोली

है। इस चोली के अग्रिम भाग में दो बड़े फूलों को काढ़ा गया है। इन दोनों फूलों की पन्द्रह पंखुड़ियां हैं। इन फूलों पर तिल्ले से कशीदाकारी की गई है। दोनों फूल उरोजों के कपों पर पूरी तरह से सज्जित हैं। इन दो फूलों के बीच एक-एक फूल आठ पंखुड़ियों सहित काढ़ा गया है। बड़े फूलों को भीतर से हरी और सुर्ख रेखाओं के हाशियों से सज्जित किया गया है। भीतर के फूलों की भीतरी रेखाओं को सुर्ख रंग के धागों से काढ़ा गया है। छोटे फूलों का केन्द्रीय बिन्दु हरी गोलाईयां हैं। जो उरोजों की उठान पर ठीक केन्द्र में स्थित हैं। कमर की ओर उक्त चोली पर सोलह पंखुड़ियों वाला एक बड़ा फूल काढ़ा गया है। इस अकेले फूल की भीतरी रेखाओं को हरी नीली और सुर्ख आभा से मुखरित किया गया है। इन हाशिया बनाती रेखाओं में एक छोटा फूल काढ़ा गया है। जिस की चार दिशाओं से चार कलियां प्रस्फुटित होती दिखाई गई हैं। इस फूल के दोनों ओर दो बेलनाकार काढ़े गए हैं। बायें वाला आकार तिल्ले में है और दायां सुर्ख रेशमी धागे से बनाया गया है। इस चोली को पीठ पर बांधने के लिए तीन डोरे दोनों ओर से बनाए गए हैं।

दूसरी चोली भी बिना पीठ की है। रेशमी कपड़े से बनी इस चोली के बाजू पर छः वर्तुलाकार रेखाएं विभिन्न रंगों में काढ़ी गई हैं। इस चोली के स्तन भाग कोषाकार हैं। और हरेक तीन चर्तुभुजों में विभाजित हैं। इन चर्तुभुजों का फलक नीले रंग का है। हरेक चतुर्भुज में ज्यामितीय डिज़ाइन का फूल काढ़ा गया है। इन्हें विभिन्न रंगीन धागों के प्रयोग से बनाया गया है।

तीसरी चोली भी बिना पीठ के है। इसे भी पहली चोली की तरह सजाया गया है। यानि उरोजों की उठान पर एक-एक बड़ा फूल अनेक भीतरी रंगीन रेखाओं द्वारा काढ़ा गया है और केन्द्र में एक-एक छोटा फूल बनाया गया है। जो स्तन के बिन्दु का संकेत करता है। इसके बाजू सादा हैं। बिना किसी कशीदाकारी के चोली को बांधने के लिए दो जोड़ी धागों का इस्तेमाल किया गया है। जो पीठ की ओर गले के पास एक जोड़ा सुर्ख धागे का है और दूसरा जोड़ा कमर के पास उरोजों के फूलों को रेखांकित करता हुआ पीछे चला जाता हैं। ये धागे मोटे एवं सूती हैं। जबकि ब्लाउज़ रेशमी कपड़े से बना है। इन चोलियों को देखकर सहज ही उत्तेजना के भाव जागृत होने लगते हैं। निश्चय ही यह सार्वजनिक पहनावा न होकर एकान्तिक, अन्तरंग क्षणों का पहनावा रहा है। □

डुग्गर के लोककलात्मक वस्त्राभूषण

□ प्रो० शक्ति शर्मा

श्रृङ्गार अर्थात् 'जो है' उस से कुछ अधिक सुन्दर दिखने दिखाने का मानव स्वभाव सहज है। विशेषकर नारी इसके प्रति अधिक ही सजग रहती है। डुग्गर महिलाओं ने भी श्रृंङ्गार में लोक कलात्मक शैली अपनाई है। अखरोट की छाल से होठों का रंजन, दिए की स्याही से आंखों का काजल, जल मुर्गाबियों के पंखों से कानों के कुण्डल, जंगल में प्राप्त होने वाली घुंधचियों व नीम की निबोलियां से मालाएं लोककला के इन नैसर्गिक उपकरणों के अतिरिक्त ग्रामीण नारियों को बेकार पड़ी वस्तुओं में भी कभी-कभी सौंदर्य दीख जाता है और वे झट उसे साकार करने के उपक्रम में जुट जाती है।

बचपन की एक घटना अभी भी मुझे गुदगुदा जाती है। मैं नाना के गांव में अपनी नन्ही ग्रामीण सखियों के साथ खेल रही थी कि चटक लाल रंग का चूड़ी का एक टुकड़ा दिख गया। रामो ने लपक कर उसे उठा लिया। पहले तो वह उसे बांह पर सजाने का यत्न करती रही फिर सिर कानों और किसी भी तरह बालों पर अटकाने लगी लेकिन वह हर बार नीचे गिर जाता। फिर तो सभी सहेलियों का सामूहिक प्रयास शुरू हुआ। कहीं से एक धागा लाया गया और चूड़ी के टुकड़े को उसमें बांध कर बांह, कान, नाक सिर पर उलझाने की झख मारी गई, पर बाल-प्रयास सफल नहीं हुआ। रामो की मां के पास जाकर सहायता लेने का प्रस्ताव पेश हुआ और सब भागती हुई जा पहुंचीं उसके घर। रामो की मां ने हंस कर वह टुकड़ा लिया और आग की धीमी-धीमी आंच पर गरमा कर नरम करके धीरे-धीरे मोड़ कर उसके दोनों टूटे सिरों को जोड़ दिया। लो जी एक अति सुन्दर कलात्मक कर्णाभूषण तैयार हो गया, जो एक धागे की सहायता से तुरन्त रामो के कान में लटक उसके गालों पर झूलने लगा। इस सफलता ने हम सब को उल्लसित कर दिया अब गलियों में ऐसे टूटी कांच की चूड़ियों के टुकड़े तलाशने का काम हमारा दैनिक काम हो गया। अब जो भी टुकड़े मिलते वह हमारी नन्हीं-नन्हीं कल्पनाओं के सांचे में ढल कर अपने छोटे

बड़े आकार के अनुसार कभी बाजू, अंगुली, पैर के अंगूठे और गले का हार बन कर हमें जो आनन्द, सन्तोष देते वह सोने का जड़ाऊ चन्द्रहार पहन कर भी न मिलता। लोककला का चित्रफलक जितना विशाल है उतनी कलात्मक सृजन की सामग्री एवं इसकी सम्भावनाएं अनन्त हैं।

पर्वों त्योहारों की इस सांस्कृतिक धरोहर की देखभाल, नारी जाति का ही धर्म है। इन विशेष अवसरों को समारोह के रूप मनाने के प्रयास में उसकी सहज कलात्मक मनोवृत्ति जग उठती है। वह सिर से पांव तक साकार आंचलिकता बन जाती है विशेष कर नई ब्याही बहुएं गुलबदन की डोगरी सुत्थन, किनारी गोटे और सितारे सलमे वाले लम्बे कलियों वाले कुर्ते व झालरों और गोटे से झमझमाते दुपट्टे ओढ़ कर नाक में नत्थ, कानों में झुमके, बुगदियों के हार, सिंहमुखी कंगन, चूड़ियाँ पैरों में कड़ियां, तोड़े बसैंतियां और पाजेवें पहन कर बच्छदुआ द्रुबड़ी पूजन करती हैं। इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि लोक कलात्मक श्रृंङ्गार में हरी दूब के तिनके भी कभी-कभी महत्त्वपूर्ण हो उठते हैं। जब महंगे आभूषणों के अभाव अथवा जड़ाऊ जगमग श्रृङ्गार के संकोच भाव में वृद्धाएं 'द्रुव' (दूर्वा) को नथ का पर्याय मान कर नाक में पहन मांगलिक कार्य सम्पन्न करती है। सोने चांदी के अभाव में दूर्वा की कलगी बनाकर 'द्रुव' नाम से अभी भी कन्या पक्ष वाले शगुन में वरपक्ष के मुखिया को भेंट करते हैं जिसका महत्त्व सोने की कलगी से कम नहीं। इसी प्रकार डुग्गर के प्रसिद्ध लोकपर्व 'राहड़े' को अगर लोककला का महान पर्व ही कहा जाये तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

इस त्योहार पर लड़कियों की टोलियां एक दूसरे के घर 'राहड़े' की रंगरचना देख कर टिप्पणियां करती दीखती हैं तो दूसरी ओर नई बहुओं और नई ब्याही लड़कियों को ससुराल पक्ष से प्राप्त वस्त्रों और आभूषणों की चर्चा खूब गर्म होती है। विशेषकर उस दिन पहने जाने वाले 'सकोलड़े' नाम के आभूषण की जो हर लड़की और बहू को उस दिन उपहार में मिलता है। साधारण माता-पिता भी अपनी कन्याओं को रेशम के गुच्छों में मोती पिरो कर बनाये हुए रंगबिरंगे 'सकोलड़े' पहनाते हैं। ये सकोलड़े ग्रामीण लोगों की आभूषण-प्रियता का प्रमाण हैं जो लोक से प्राप्त अत्यन्त साधारण सामग्री से बनते हैं। गांव में प्रचलित श्रृङ्गार के एक और उपकरण रंगबिरंगे चुटीले (परांदों) से बचे-खुचे (कच्चे रेशमी डोरे) में मोती पिरो कर बनाए जाते हैं। यह त्योहार वर्ष भर के लिए बहुओं और बालिकाओं को सुघड़ता-अर्जन एवं हर वस्तु में सौन्दर्य-सृजन की प्रेरणा देता रहता है।

लोककला की आत्मा लोक के मिट्टी पानी में रची बसी है और इसी मिट्टी को जनमानस अपने प्यार-दुलार भरे हाथों से जगा लेता है, अपने

जीवन में आत्मसात कर लेता है। भिन्न-भिन्न रुचियों के लोग अपनी-अपनी रुचि के अनुसार उस की देख-रेख सहेज सम्भाल करते हुए आने वाली पीढ़ियों को अपनी यह कलात्मक धरोहर सौंपते चलते हैं।

शीत घाम से शारीरिक रक्षा जीवन की मूल आवश्यकता है। आदिम युग में जब जीवन वनमानुषी जीवन शैली से भिन्न नहीं था। इसी मूल जीवनाग्रह के कारण मनुष्य ने पर्वत कंदराओं में रहने और वृक्षों के पत्तों से शरीर कौ ढकने का सहज उपक्रम कर लिया। शरीर ढकने में कुछ सुखसुविधाएं अनुभव हुईं तो उसके भीतर का कलाकार जाग्रत हो उठा और उसने पेड़ों की छाल से वस्त्रादि का आविष्कार किया। बाद में उन्हें संवार कर दूसरों से कुछ भिन्न दिखने तथा बढ़िया प्रदर्शन की लालसा से अपने आस-पास बिखरी लोक संपदा से, मोर पंख, गुंजा, वनफूल, पत्ते, शशक, सींग इत्यादि को सजा संवार कर आभूषणों की तरह उपयोग में लाना शुरू कर दिया। तत्कालीन मानव समाज की यह एक महान् उपलब्धि थी। धीरे-धीरे नखों और हड्डियों के भी आभूषण पहने जाने लगे और फिर तो शिष्ट कला के नाम पर भी हाथी दांत एवं लकड़ी के बड़े कामदार कलात्मक नमूने के आभूषण एवं अन्य सजावटी सामान बनने लग गए। जल मुर्गाबियों के छल्लेदार पंखों के कर्ण कुण्डल और भी वनांचलों से प्राप्त अनगिनत सामग्री (कांच धातु, काष्ठादि) से बने हाथों कानों गले और पांवों के कलात्मक आभूषण आज भी गांवों, शहरों में चाव से पहने जाते हैं।

मानव मन स्वभाव से ही असन्तोषी होने के कारण नवीनता की चाह वश, जो भी प्रस्तुत है उसे उल्ट-पुल्ट कर देखता है। विभिन्न सम्भावनाओं से उसके प्रत्येक कोण को देख-परख कर मनोरंजन का साधन ढूंढता है। जीवन की एकरसता उसे ऊबा देती है अत: अदल-बदल की मनोवृत्तिवश पहनने ओढ़ने के नित नए फैशन खोजता, बनाता रहता है। ये फैशन प्राय: स्थानीय माहौल और जलवायु के अनुसार अपनी आंचलिक पहचान बनाए रखते थे अत: लोककलात्मक वस्त्राभूषणों की पहुंच केवल उपहार के रूप में ही थी। आधुनिक युग में ये विश्व भर में अपना सौंदर्य और महत्त्व दर्शाते हुए दिखाई पड़ते हैं।

यों तो डोगरा लोग अपने स्वाभिमान और मर्यादा के कट्टर रवैये के बावजूद मिश्रित संस्कृति के हामी रहे हैं इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमें आज से कई सौ साल पहले के प्रचलित लोक गीतों, मुहावरों और चित्रों से प्राप्त होता हैं। इनमें डोगरी राजस्थानी, मुगलिया एव पठानियां पहरौणियां आभूषण एवं उन की बनावटें व शैलियां डुग्गर की परम्पराओं से जुड़कर एक रूप हो गई हैं।

विश्वविदित ग्रामीण महिलाओं के बारे में एक सत्य यह भी है कि वे पहरावे के बारे में आग्रहशीला कभी नहीं रहीं और विशेष अवसरों

को छोड़ दें तो गांव के प्राय: सभी वर्गों की स्त्रियां एक 'गिद्दी' (एक ही चांदर को एक विशेष विन्यास में सारे शरीर पर लपेट कर वांधने को 'गिद्दी' कहते हैं) से ही घर गृहस्थी के दैनिक कार्य निपटा लेती थीं लेकिन आभूषण पहनने का चाव प्राय: सभी को रहता था जो अपनी-अपनी हैसियत के अनुसार कानों में सोने चांदी, पीतल या गिल्ट की बालियों व झुमकियों के रूप में पहनी जाती थीं। कानों में चूड़ियां, जुट्ट, कंगन, पैरों में कड़ियां, छल्लियां (बिछुए) तथा हाथों की अंगुलियों में छल्ले व अंगूठियों का प्रचलन भी बहुत प्राचीन है जिस में छल्ले का उल्लेख तो कई डोगरी लोक गीतों में भी हुआ है। वहुएं या कन्याएं सिर में चौक फूल और नाक में प्राय: बुलाक पहनती थीं, आरसी भी एक लोकप्रिय आभूषण था जो अंगूठे में पहना जाता था और उसमैं जड़ा दर्पण सुन्दरियों को अपनी सौन्दर्य छटा दिखाने के लिए सदैव साथ रहता था। नई नवेली बहुओं की पहचान बांहों में लाल चूड़े और वेणी में लाल परांदे से की जाती थी जिन्हें वे प्राय: वर्ष, छ: महीने तक अवश्य पहनती थीं और लाल पीले मांगलिक रंगों की उस की पहरौनी भी परिवार में उसे विशेष दर्जा दिए रहती थी। नई वहू अथवा नई ब्याही लड़की के वस्त्रों में सालू या लोक गीतों के अनुसार ओढ़नू भी विशिष्ट डोगरी वस्त्र हैं। सालू बड़े कलात्मक ढंग से कढ़ी हुई लाल रंग की गाढ़े की चूनरी को कहते हैं जो विवाह में कन्या को लाल चूड़े और नत्थ के साथ मामा की ओर से उपहारस्वरूप प्राप्त होती है। यह सुब्बर-सालू जीवन भर महिलाएं मांगलिक अवसरों पर धारण किया करती थीं।

कांच की चूड़ियों का आग्रह भी गांवों में बहुत है लेकिन श्रमसाध्य काम-काज में प्राय: वह टूट जाती थीं अत: लड़कियों और बहुओं के लिए ही उपयुक्त रहती थीं। हां शीशे के मोटे-मोटे कंगन या गजरे बड़ी उमर की महिलाओं के लिए भी उतनी ही बड़ी सौगात होते थे जितनी आज की फैशनेबुल महिलाओं के लिए 'इंपोर्टिड किट'।

निर्धन महिलाओं को यह शीशा जड़े गजरे व कांच की चूड़ियां भी उपलब्ध नहीं होती थीं और न ही वह पीतल अथवा गिल्ट के आभूषण खरीद पाती थीं अत: अपनी आभूषणों की लालसा मिटाने के लिए वे पटसन के रेशे उतार कर बचे हुए भीतरी छड़ीनुमा लम्बे-लम्बे और मोटे तिनकों को छोटे-छोटे टुकड़ों में काट कर विभिन्न आकारों में सी लेती थीं। गले की माला, कानों के लटकन, बाजूबंध आदि कई प्रकार के आभूषण बना कर सज लेती थीं कभी-कभी गेहूं की भूसी में से नाड़ के साबुत टुकड़े चुन कर हार व चूड़ियां भी बना कर पहन लेती थीं।

सही अर्थों में लोककला की संरचना तो उन्हीं तत्त्वों से मानी जानी चाहिए जो स्थानीय रूप में उपलब्ध हों या कहीं से भी प्राप्त कच्चे व स्वाभा-

विक रूप से प्राप्त पदार्थों से बनाए जाएं। गेहूं की वालियां कट जाने पर सूखा हुआ नीचे का जो डंठल बच रहता हैं उसे एक निश्चित माप में काट कर और रंगीन धागों की सहायता से सी बांध कर, रंगीन कतरनों से 'फुम्मन' बनाकर गांव की महिलाएं उन में गोट और झालर लगा देती हैं। यही कतरनों के रंगीन टुकड़े और फंब की छोटी-छोटी गांठें बांध कर महिलाएं अपनी चुनरियों को सजा कर वस्त्रों में कलात्मक चमत्कार पैदा कर लेती हैं।

पहाड़ों और मैदानी गांवों में काली सूफ की फतूही नौजवानों में फैशनेबुल होने की पहचान बनाती थीं। वैसे तो लोककलाओं में मरदों को न तो इतनी दिलचस्पी होती है और न ही उसके लिए उद्यम। साधारण कुर्ते दोहरे या इकहरे घुट्टने (पजामे) या साधारण घुटनों तक धोती व तहमत ही उनकी वेशभूषा रही है पगड़ी बजुर्गों और टोपी बच्चों की पहचान बनाती है पर यह सदरी या फतूही जो काले रंग के ऊपर पचासों सीप के बटन टांक कर बनाई जाती थी शौकीन बांकों की बड़ी चहेती पोशाक थी जिसे पहन कर वे आज के 'हीरो' से कम नहीं लगते थे। किन्तु सरल सुन्दर जीवन की पहचान लोक कलात्मक वस्त्राभूषण आज मात्र स्मृति मात्र होकर रह गए हैं। □

डुग्गर की लोक कला

□ संसार चन्द शर्मा

मूल डोगरी से अनु. छत्रपाल

किसी प्रबुद्ध पारखी ने बड़ी सार्थक और सटीक बात कही है कि मानव के उदय-काल का इतिहास कला ने ही लिखा है। उस समय मानव अर्धपशु समान था और वृक्षों से अपना रैन-बसेरा त्याग कर, धरती पर गुफाओं और कन्दराओं में रहने लगा था। भोजन के जुगाड़ और अपने से अधिक शक्तिशाली हिंस्र बनैले पशुओं से छिपने के लिए किसी सुरक्षित स्थान की खोज में ही उसने गुफाओं में शरण ली। वहां वेकार बैठे ठाले उसके मस्तिष्क में कुछ खुराफातें पैदा हुईं। उसके हृदय में नकल उतारने की प्रवृत्ति जागी। नकल उतारना मानव का अतिरिक्त गुण था जो अन्य पशुओं में प्राय: नगण्य होता है। यही वैशिष्ट्य वच्चे को मनुष्य में विकसित करता है। यदि बच्चा अनुकरण न करता तो वनमानुष के स्तर से आगे न पहुंच पाता। उस आदिम युग के डरे-सहमे मानव ने उन गुफाओं में बैठे-बैठे कोयले और गेरू से पशुओं तथा उनके आखेट के चित्र बनाए। इनमें से कई चित्र आज भी उन गुफाओं में सुरक्षित विद्यमान हैं। यहीं से उस जंगली पशुमानव का इतिहास आरम्भ होता है। गुफाओं और कन्दराओं में चित्रित यह आदिम कला-रूप योरुप में स्पेन की 'दान दोग्ने' और भारत में सिरिगुजा की पर्वतीय गुहाओं में मिले हैं। कला मर्मज्ञों के अनुसार यह कला कोई पचास हज़ार वर्ष पुरानी है।

गुफाओं से बाहर निकल कर आदिमानव को सिर छिपाने के लिए अन्य सुरक्षित स्थान की आवश्यकता पड़ी। सर्वप्रथम उसने घास और खर पतवार के झोंपड़े बनाए। अच्छे-बुरे और खरे-खोटे की पहचान सीखी। स्वच्छता से सौन्दर्य वोध का प्रादुर्भाव होने पर सजावट के नित्य नए कल्पना द्वार खुलने लगे।

सबसे पहले किसी चीज की आवश्यकता महसूस होती है तदुपरान्त उसके आकार की ओर ध्यान आकृष्ट होता है। वह उसे मानसिक आवश्अकता के अनुसार सौन्दर्यवान बनाता है। सौन्दर्य बोध की तृप्ति एक स्वभाविक अपेक्षा है। आंखें जिससे तृप्त न हों, मनुष्य उस वस्तु की ओर कम ही हाथ बढ़ाता है। सौन्दर्य से जुड़ी हमारी अपेक्षाओं का पहला निर्णय हमारी आंखें और अन्य इन्द्रियां, यथा नाक, कान, हाथ, करती हैं। इसके बाद विचार किसी निर्णय पर पहुंचता है। इन्द्रियां उस समय परामर्शदाता की भूमिका निभाती हैं। इसलिए किसी वस्तु को अपने मनचाहे रूप-आकार में ढालना मनुष्य की मूल भावना बन गया। मनचाही वस्तु सन्तुष्ट करती है जबकि अनचाही चीज आंखों में खटकती रहती है. औत्सुक्य पैदा करती है। आंख की किरकिरी किसी को नहीं भाती, सुन्दर और रुचिकर वस्तु परितृप्ति एवं आनन्द का सृजन करती है।

जिस समय कला में सौंदर्य और साज-सज्जा का पदार्पण हुआ, वह मनुष्य के हर क्रिया-कलाप में परिलक्षित होने लगी। झौंपड़ा बना तो उसकी दीवारों को लीपा-पोता गया। दरवाजा बना तो किवाड़ों को सजाया गया। खम्भे, शहतीर और कड़ियां, सभी साज सज्जा मांगने लगे। जमीन साफ करके घरों के फर्श मुलायम किए गए। आंगन की चौतरफा दीवारों को गोबर से लीप कर सफेद मिट्टी से धवल बनाया गया। इन सभी बातों से कला की झलक मिलने लगी। संस्कृति और धार्मिक-भावना का विकास हुआ तो विवाह-प्रणाली ने जन्म लिया। कालांतर विवाह-कार्य व्यक्ति के लिए एक मुख्य उत्सव बनता गया। इस बीच कला-रुचि परिष्कृत हुई। वर के साथ-साथ विवाह वाला घर भी वर की तरह सजने लगा। चित्रकला की कई करामातें सामने आईं। तोरण, 'दरेआस' जगनमाला और नाईन की आरती हमारी संस्कृति का अंग बन गए। वधु का आगमन हो, कोई तीर्थ यात्रा से लौटा हो, या दीपावली का पर्व हो, जमीन पर अल्पना चित्रित करने की परम्परा बन गई।

यह सभी कला-चिह्न मनुष्य के हर्षोल्लास के सहभागी हैं। मनुष्य की कला-प्रवृत्ति का उसके परिधान, बर्तन-पात्रों तथा आभूषणों पर व्यापक प्रभाव पड़ा।

पुरानी कहावत है कि कन्या के जन्म के साथ ही माता-पिता उसके विवाह का सामान जुटाना शुरू कर देते हैं। माताएं कन्या के लिए विवाह के अवसर पर ली जाने वाली मांगलिक चुनरी (सालू) पर बेल बूटे टांकना शुरू कर देती हैं। बेटी के दहेज की चीज़ों से ही मां की कुशलता-पटुता सिद्ध होती है। दहेज देखने वाले सोचते हैं, यदि मां ऐसी तो बेटी कैसी होगी।

सुर्ख खद्दर की चादर पर औरतें बड़ी बारीकी और तन्मयता से रंगीन रेशमी धागों से चौकोर डिज़ाइन की कशीदाकारी करती थीं। वर के लिए

रूमाल, जनाना जोड़ों की चोलियां नयनाभिराम बेलबूटों की कशीदाकारी से सुसज्जित की जाती थीं। लाड़ली बिटिया की शादी के लिए चिन्दियों की गुड़िया, हाथी घोड़े तथा फल-सब्ज़ियां भी बनाई जाती थीं। कहीं हाथी के हौदे पर, गोटा-किनारी वाली पगड़ी बांधे समधी हुक्का पी रहा होता तो कहीं घोड़े पर तलवार लिए कमरबन्द कसे दूल्हा विराजमान होता। कहीं पर पेशवाज पहने समधिन नथनी पर इतराती, पति के समकक्ष खड़ी होती। रंगीन चरखा कौड़ियों, शीशों और सूत के गट्टों से अलंकृत होता। यह लोककला भी अद्भुत वस्तु है जो बिना पढ़ाए-सिखाए पीढ़ी-दर-पीढ़ी परवान चढ़ती रही है। यह एक सुघड़ मां के हाथों से जीवन्त बनी कला-प्रदर्शनी थी जो दहेज के रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत होती है।

कढ़ाई-बुनाई के अतिरिक्त गेहूं के पौधों की तीलियों से बने आसन (बिन्ने), दस्ती पंखे और टोकरियां जनकला के ऐसे चित्ताकर्षक नमूने हैं जो आज भी कई घरों में दिखाई देते हैं। देहाती औरतें कृषि-कार्य से निपट कर खाली समय में इन सरल एवं मोहक कला-वस्तुओं का निर्माण करती हैं। इन दस्ती-पंखों और 'बिन्नों' में ऐसी बुनावटें और सजावटें पैदा की जाती हैं कि देखने वाला मुग्ध हो जाता है। हमारे गांव-देहात के घरों में जहां कहीं नज़र डाली जाए, वहीं यह लोक कला अपनी छटा बिखेरती दिखाई देती है। कहीं चित्रित आकार तो कहीं झिलमिलाते बरक वाली गोल टोपियां। डुग्गर की गृहिणी, गृह-लक्ष्मी ही नहीं सरस्वती भी है। केवल इस बात का खेद है कि इस कला का प्रचलन समय के साथ-साथ घटता जा रहा है। किसी पुराने मकान को आप भी देखें तो सुसज्जित किवाड़, चौखटे, स्तम्भ, तथा कड़ियां और चतुर गृहलक्ष्मी के अनुभवी हाथों से चित्रित बेल-बूटे, तीतर-मोर तथा फर्श पर अंकित अल्पनाएं डोगरा-कला-परम्परा का साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं। आधुनिकता एवं पक्के मकानों के निर्माण के साथ ही यह कला लुप्त होती जा रही है।

कोई जमाना था जब किसी चतुर गृहिणी के हाथों से किया गया गोबर का लेपन देख कर आश्चर्य होता था। पर्व-त्यौहारों, नाग-पंचमी, 'राड़े', तुलसी-पूजन, अहोई, और दीपावली पर रंगों का अनोखा निखार नज़र आता है। कई दुर्लभ रूपाकार देखने को मिलते हैं। सरल सहज चित्र रागात्मक भावनाओं से अंकित किए जाते हैं। इस परम्परा ने कभी प्राकृतिक उपादानों की नकल नहीं की। इनमें कोई दर्प अथवा नकलीपन नहीं होता। यह सहज-सरल कला कितनी नैसर्गिक थी। सांप, बिच्छु, पालकियां, कहार, मनुष्य, फूल-पत्ते, पशु पक्षी—एक समग्र सृष्टि! लम्बे तिनके के सिरे पर रूई लपेट कर वस्त्र रंगने वाली तूलिका से इन लोक कला कृतियों का सृजन किया जाता है।

लोहड़ी पर लड़के पैसे जमा करके 'छज्जे' बनाते थे। बांस की खपचियों

का ढांचा बना कर बड़े चाव से रंग-बिरंगे कागजों के विभिन्न प्रकार के फूल आदि बना कर छज्जों पर लगाते थे। उन पर मुक्कैश के जालीदार लहरिए झिलमिलाते थे। यह कलात्मक 'छज्जे' साज-सज्जा एवं कारीगरी का कमाल पेश करते हैं। कई 'छज्जे' देखकर तो विस्मय होता है । यह 'छज्जा' असल में नाचते मोर के छितराए अर्ध गोलाकार पंखों का दृश्य प्रस्तुत कर ता है। मोर जब मस्ती में आता है तो नाचता है । लोहड़ी का पर्व भी हर्षोल्लास का त्योहार है। यह ऋतुराज बसन्त का प्रतीक है। दीपावली पर कागज़ के फानूस बनते थे। कई फानूस भी कलात्मकता के उत्कृष्ट नमूने होते थे इसी प्रकार छोटे बच्चों को रिझाने के लिए कपड़े और कागज़ के तोते बनाए जाते थे। श्री कृष्ण जन्माष्टमी पर शोभायात्रा की झांकियां भी बनती थीं।

निष्कर्षतयः डुग्गर के जीवन के हर छोटे-बड़े क्रिया-कलाप में कला का विशेष स्थान है। □

डुग्गर की लोक मूर्तिकला में धातु-शिल्प

□ शिव रैना

विख्यात फ्रांसीसी चित्रकार पिकासो ने शिल्प को "मन का रंगीन दबाव; हाथों का महीन ख्वाव" कहा है। कला की मधुर स्वर-लहरियों को बहुरंगे धागों, धातुओं और अन्य वस्तुओं में ढालना, वह कला है—जिस का मोल नहीं आंका जा सकता। पंजावी कवयित्री अमृता प्रीतम ने कश्मीरी नक्काशी पर शायद इसीलिए यह कहा था, कि—"अगर मैं इस कला की जन्म-दाती होती, तो मोक्ष प्राप्त करने के बजाय, बार-बार कश्मीर घाटी में जन्म लेना पसन्द करती !"

डुग्गर-भूमि जम्मू, बौद्ध-भूमि लद्दाख और धरती के स्वर्ग कश्मीर की तिमंज़िला इमारत से वनी जम्मू-कश्मीर रियासत को, कला-कौशल की तिगुनी-सम्पदाओं से एक साथ सम्पन्न होंने का गौरव प्राप्त है। वीर-भूमि जम्मू की कला पर, स्थानीय सभ्यता, संस्कृति और वैभवता की स्पष्ट छाप अंकित है। खनिज-सम्पदाओं से भरपूर डुग्गर की अनुपम धरती, जाने-माने कलाकारों और कलाओं से सजी है। इतिहास और प्राचीन कला-भण्डार इस तथ्य के गवाह हैं, कि डुग्गर की मूर्तिकला में धातु-शिल्प का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है।

डुग्गर की लोक मूर्तिकला भी आरम्भिक काल में धार्मिक थी। इसीलिए इस कला को धर्म की अनुगामिनी कहा जा सकता है। यहां धातु की छोटी और मध्यम मूर्तियां भी वनती रही हैं। विशाल मूर्तियां बाहरी रियासतों (जैसे राजस्थान, पंजाब और उड़ीसा) से लाई जाती रही हैं। यदि इन मूर्तियों और प्रतिमाओं का अध्ययन किया जाए, तो पता चलता है, कि विशेष आदेश पर बनवाई गई इन अनेक मूर्तियों पर भी डुग्गर सभ्यता-संस्कृति के अमिट चिन्ह डलवाए गए हैं। डुग्गर धातु-शिल्प के माध्यम से महां के धार्मिक विश्वासों, मान्यताओं, कर्म-कांडों और आभूषणों पर प्रकाश पड़ता है। यही नहीं, समय-समय होने वाले परिवर्तन भी उजागर होते हैं। बिलावर (ज़िला कठूआ) के ऐतिहासिक महाबिल्केश्वर

मंदिर की कुछेक प्रतिमाओं में आभूषणों का धातु-शिल्प, सम्भवतः हमारे जम्मू-कश्मीर का सब से बढ़िया और सब से महंगा कार्य है। इन आभूषणों को प्राचीन प्रतिमाओं पर बड़ी जीवंतता से उत्कीर्ण किया गया है। सुद्ध महादेव (ज़िला उधमपुर) की भव्य शिव-पार्वती प्रतिमा और भगवान् शिव के लिपि-युक्त लौह-त्रिशूल पर, धातु-शिल्प की एक अन्यतम छाप है। काले संगमरमर पर भी, धातुमय साज-सज्जा, आभूषण और अलंकार, एक कलात्मक संसार की सृष्टि करते हैं। 'मंदिरों के शहर' जम्मू और जम्मू-कश्मीर के प्राचीन मंदिरों की मूर्तियों पर धातु-शिल्प स्वयं मूर्त्त होकर विराजित है। प्रतिमाएं बड़ी हों या छोटी, उन पर किया गया व्यय, परिश्रम, धातु, समय और प्रभाव—किसी भी दृष्टि से कम या निम्नतर नहीं लगता। डोगरा आॅर्ट गैलरी और श्रीनगर के लालमंडी स्थित भव्य संग्रहालय की अनेक डुग्गर मूर्तियों में कांसा, पीतल, चांदी, स्वर्ण और लोहा प्रयुक्त है जो इन मूर्तियों को विश्वकला-संसार में, प्रथम श्रेणी में रखने योग्य बनाता है।

डुग्गर-पुरातत्व और मूर्तिकला के अछूते पक्षों को उजागर करने में, हमारे असंख्य विद्वानों ने योगदान दिया है। सर्वश्री बी० पी० शर्मा, मुल्खराज सराफ, डी० एन० सराफ, सूरज सराफ, अशोक जेरथ, ज्योतीश्वर पथिक तथा इन्दुभूषण की महत्वपूर्ण भूमिका है। श्री सूरज सराफ ने पत्रकारिता के माध्यम से, डुग्गर मूर्तिकला और प्राचीन डुग्गर शिल्प का तुलनात्मक अध्ययन किया है। जिसके आधार पर यह कहा जा सकता हैं कि डुग्गर-भूमि के मणिपुर, राजस्थान, आंध्र प्रदेश, मद्रास तथा अन्य राज्यों के साथ सीधे कलात्मक संबंध रहे हैं। देशी-विदेशी सभ्यता और शिल्प के प्रभाव, स्पष्ट रूप से यहां आज भी देखे जा सकते हैं। विशिष्ट विद्वान तथा कला-मर्मज्ञ श्री मुहम्मद यूसुफ टेंग के कुछेक खोजपूर्ण लेखों में भी, इसी बात का संकेत मिलता है।

इतिहास गवाह है कि बसोहली, चढ़ेआई, रामकोट, रामनगर (उधमपुर), जंदराह और पुराने जम्मू के कतिपय भागों में, धातु-शिल्प युक्त मूर्तिकला आठवीं और बारहवीं सदी में भी जारी थी। बर्तनसाज़ी वाले 'ठठेयारों के मुहल्ले' जम्मू में मौजूद थे। आज भी एकाध मुहल्ले में धातु-कार्य विशेष रूप से होते हैं। जम्मू-नगर का आधुनिक 'मोती बाज़ार' पुराने वक्तों में भी शाही मुहरे, सिक्के, आभूषण, बर्तन, अस्त्र-शस्त्र तथा लघु मूर्तियों की 'टकसाल' समझा जाता था। राज तरंगनी में वल्लापुर (आधुनिक बिलावर) को भी लघु मूर्ति-कला केन्द्र बताया गया है।

किसी ने सच कहा है, कि : 'आम घरों में छुपे खजाने, शाही खजानों से भी कीमती होते हैं।' आज भी डुग्गरवासियों के असंख्य घरों में डुग्गर-मूर्तिकला और धातु-शिल्प के ऐसे-ऐसे अनमोल और मनोहर खजाने मौजूद हैं, जिन्हें

किसी संग्रहालय की शोभा बनने का अवसर नहीं मिला। ये कलात्मक मूर्तियां सजावट के साथ-साथ पूजा योग्य भी हैं। जम्मू के सीमांत-क्षेत्र अखनूर के अम्बारन गांव की त्रासदी ही देखें। यहां की अनमोल मूर्तियां और प्रतिमाएं विभाजन से पूर्व सीधे-सादे लोगों की अज्ञानतावश कौड़ियों के मोल 'लाहौर संग्रहालय' में चली गईं। प्राचीन कला के आगार अम्बारन की आधी से ज्यादा मूर्तियों को, अन्धविश्वासी लोगों ने यह कह कर निकटस्थ चनाव-नदी में बहा दिया कि यही अभिशप्त मूर्तियां महामारी का कारण हैं।

डुग्गर मूर्तिकला का धातु शिल्प मुख्यत: पीतल, तांबे और कांसे तक सीमित रहा है। चांदी दूसरे नंबर पर रही है। स्वर्ण का कार्य सीमित और न्यूनतम रहा है। डुग्गर शिल्पकारों को सामंतवादी शासन में प्रोत्साहन के साथ-साथ मुसीबतों का भी सामना करना पड़ा है। मशीनों और मध्यस्थों ने शिल्पकारों को गरीबी की ओर भी धकेला।

धातु की मूर्तियों, बर्तनों तथा अन्य चीज़ों पर बेलबूटे काढ़ना, डुग्गर कलाकारों की एक विशिष्ट कला है। इन पर एशिया के अनेक दस्तकारों और तिब्बत के बौद्धों का भी प्रभाव है। जैनुलआबदीन 'बड़शाह' 1405 ई० में तैमूर की मृत्यु के बाद समरकंद से बहुत-से शिल्पकारों को अपने साथ कश्मीर लाया था। इन कलाकारों के शिल्प का प्रभाव, डुग्गर मूर्तिकला पर भी पड़ा।

डुग्गर शिल्पकार पुराने समय से ही सांचे बनाकर मूर्तिकला, आभूषणों और बेलबूटों में प्राण फूंकते रहे हैं। सोने, चांदी और पीतल का शिल्प इतनी बारीकी से किया गया है कि दर्शक दंग रह जाते हैं। यह कला प्राय: पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती थी। इस में नयेपन का पुट भी रहता था। जंगलों के 'हरे-सोने' की इस धरती में धातु की दौलत भी पग-पग पर मौजूद रही है। लोहा, तांबा, लिगनाइट, बोक्साइट, कोयला, बोराक्स, गंधक, अभ्रक और कीमती पत्थरों से, जम्मू-कश्मीर मालामाल रहा है। लद्दाख में सिंधु और शियोक नदियों की रेत से, सोना निकाला जाता रहा है। 1956 के आसपास, 'फूलों की घाटी' गुलमर्ग में भी सोने की एक खान का पता चला था। डुग्गर धातु कला से मूर्तियों में एक रहस्यमय सजीवता उत्पन्न होती रही है। गूजर, बकरवाल और देहाती नारियों के चांदी-जड़े वस्त्रों, सिलमे-सितारों और भारी-भरकम आभूषणों का प्रभाव भी, डुग्गर मूर्तिकला को प्रभावित करता है। धातु-शिल्प की विविधता डुग्गर की मूर्तिकला की पहचान और शिल्पकार की रचनाशीलता की तरंग है। पत्ते, अंगूर, कमल के फूल, फल, जलधारा, दीपक, चूड़ियाँ, जीव-जन्तु, पात्र इत्यादि धातुशिल्प में पूर्णतया मुखरित हुए हैं। बताया जाता है कि, बसोहली के 'किशो' और 'रामदास', जैसे व्यक्ति सिद्धस्त

मूर्तिकार थे। इन शिल्पियों की चम्बा, अर्निया, बिलावर और मनावर के शिल्पियों के साथ प्रतियोगिताएं होती थीं। शाही और व्यापारिक स्तर पर सफलता के लिए, शिल्पियों को संघर्ष करना पड़ता था। ग्राम चमियाड़ा (तहसील रियासी) के 'भाईया' नामक मूर्तिकार का वड़ा नाम था। महाराजा रंजीत देव ने 1727 ई० के आसपास 'भाईया' से अनेक छोटी-बड़ी धातु-मूर्तियां बनवाईं। तत्कालीन जम्मू साम्राज्य की दस रियासतों (बाहू, भोटी, रियासी, अखनूर, सांबा, मनकोट, त्रिकोट, दलपतपुर, लखनपुर और जसरोटा) के शासकों ने भी धातु-शिल्पियों को संरक्षण और प्रोत्साहन दिया। चम्बा, भरमौर, मलेरकोटला, नूरपुर, कांगड़ा, कुल्लू और बिलासपुर से भी मूर्तिकारों और चित्रकारों को बुलाया गया। चम्बा के चौगान (रावी तटीय) भूरीसिंह म्यूजियम में आज भी डुग्गर धातु कला मंडित मूर्तियों के नमूने विद्यमान हैं। राधा-कृष्ण, शिव-पार्वती, राजा-रानियां, गणेश जी. सीता-राम तथा इसी प्रकार की छोटी बड़ी कांस्य-मूर्तियां, अनेक स्थानों पर देखी जा सकती हैं। वृक्षपूजा और नागपूजा के दृश्यांकन भी हैं। शिव और विष्णु का मिला-जुला रूप डोगरा आर्ट गैलरी की कुछेक मूर्तियों में देखा जा सकता है। अर्द्ध नारीश्वर, विष्णु, लक्ष्मी और कार्तिकेय के अंकन में, धातु-शिल्प चरम सीमा पर है। रणवीरेश्वर मंदिर के विशालकाय नंदीगण तथा पुरमंडल की रहस्यमय जलहरी की शिल्पकला देखते ही बनती है। बसोहली के ऐतिहासिक शिवालय से प्राप्त एक प्रतिहार युगीन फलक के बीच में विष्णु और दाएं-बाएं तपस्विनी पार्वती को दिखाया गया है। ब्रह्मा, नृसिंह, शिव-रूप, विष्णु-लक्ष्मी, शिव-पार्वती का एक साथ अंकन. सांप्रदायिक सौहार्द का प्रतीक है। धातु-शिल्प सज्जित मध्यम आकार की मूर्तियां राजनीतिक महत्त्वपूर्ण युगों को भी उजागर करती हैं।

डुग्गर की मूर्तिकला में धातु-शिल्प का अध्ययन, एक मनोरंजक और प्रेरक विषय है। अनेक मूर्तियों में कांस्य, पीतल और लोहे का एक साथ प्रयोग हुआ है। डोगरा मूर्तिकार निश्चय ही स्वर्णकार-कला तथा धातु-विज्ञान में दक्ष थे। इस सदर्भ में, वे निश्चय ही बाहर से आने वाले शिल्पियों का भी सहयोग लेते रहे होंगे। पंचारी और शांकरी क्षेत्रों के देहातों में पाई जाने वाली लघु-आकार मूर्तियों के अध्ययन से, यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है। श्री डी० एन० सराफ के अनुसार : 'डुग्गर-मूर्तिकला जाने-अनजाने विभिन्न कला-शैलियों और कला-केन्द्रों का सहज ज्ञान करवा देती है।' सिरजनहार कलाकार के सामान्य संस्कार और निर्माताओं के सामाजिक गुणों व धार्मिक रुचियों को भी प्रकट कर देती है।

डुग्गर मूर्तिकला का शिल्प प्रायः शांति और सन्तोष का प्रतीक है। उसमें युद्ध, अस्त्र-शस्त्रों और रुद्रता-उग्रता की कठोरता को यथासम्भव दबाया गया है। वीर-रस के आवश्यक पहलुओं को अवश्य उभारा गया है। देवी-

देवताओं की पहचान सहज ही होती है। इन मूर्तियों में डुग्गर जन-जीवन की तत्कालीन सरलता और लापरवाही भी कहीं-कहीं झलकती है। धातु से निर्मित स्वस्तिक, चक्र, चांद, सूर्य, पर्वत, सिंह इत्यादि में विशिष्ट प्रभावोत्पादकता है। धातु-शिल्प का इस्तेमाल, कलाकारों के साहित्य-प्रेम और साहित्य-ज्ञान का परिचायक है। धातु-शिल्प के नमूनों की सूक्ष्मता को देखकर, दर्शक आश्चर्यचकित रह जाता है। कहते हैं, सिक्ख शासक रणजीतसिंह को रामनगर (उधमपुर) यात्रा के दौरान, माता वैष्णवदेवी की धातु-मूर्ति भेंट की गई थी। डुग्गर मूर्तिकला के सौंदर्य का रहस्य उनके धातु-शिल्प और सरलता में निहित था। पुंछ-नरेशों के पास जो मूर्तियां थीं, वे विशुद्ध तांबे की थीं और रंगीन थीं। क्योंकि तांबे पर जल्दी जंग लगता है। चांदी पर खुदाई का काम सब से सूक्ष्म होता था और अधिकांश शिल्पी इसे ही पसन्द करते थे। सादा काम हाथ से ही होता था। डुग्गर मूर्तिकला में यक्ष तथा यक्षिणियां नहीं मिलते। इन मूर्तियों में उन्नत उरोज तथा क्षीण-कटि के नमूने भी शामिल हैं। आकृतियां सजीव और सक्रिय मालूम पड़ती हैं। सुघड़ता का कहीं-कहीं अभाव है। प्रायः प्रतिमाओं का वस्त्रालंकरण नहीं के बराबर है। महाराज प्रतापसिंह के शयन-कक्ष में बसोहली के एक कलाकार द्वारा निर्मित नटराज की मूर्ति थी। निस्सन्देह कला और सृजन का उत्कृष्ट नमूना जम्मू-क्षेत्र की धातु निर्मित मूर्तियां अपना सानी नहीं रखती। □

डुग्गर के लोक-नृत्य

□ ओम गोस्वामी

लोक नृत्य : आनुष्ठानिक सम्बन्ध :

नृत्य का सम्बन्ध शरीर की उस लयबद्ध गतिविधि से है जिसके द्वारा मनुष्य प्राय: खुशी के मनोभावों का प्राकट्य करता है। आदिम समाज में न्यूनाधिक मात्रा में मृतात्मा के लिए भी नृत्य का प्रचलन रहा है, जिसके द्वारा कुल अथवा कबीले से बिछुड़ी हुई आत्मा के सम्मान में कुछ जादुई प्रक्रियाएं सम्पन्न की जाती थीं। वस्तुत: लोक-नृत्य परम्परागत अनुष्ठानों का एक उपकरण मात्र रहा है। "आनुष्ठानिक तथा कृषि विषयक एवं ऋतुओं से सम्बन्धित नृत्यों का सृजन कृषक वर्ग द्वारा हुआ है।"[1] "आत्मा की पूजा और बलिदान के नृत्यों की काफी संख्या है। यह तमाम रीति-रिवाजों और अनुष्ठानों का आवश्यक अंग है। एशिया और भारत में अधिकांश जनजातीय और लौकिक नृत्यों का उद्भव अनुष्ठान अथवा जादू से हुआ है। यह रिवाज एवं परम्पराएं यजुर्वेद एवं अथर्ववेद में भी ढूंढी जा सकती हैं।"[2] डोगरा क्षेत्र में भी नृत्य विधा आनुष्ठानिक कृत्य के रूप में उभरी और विकसित हुई। आज भी ग्रामीण समाज के समक्ष नृत्य का परम्परागत महत्त्व वर्तमान है। "जीवन एक सम्पूर्ण चित्र है, इसमें नृत्य एक अलग कला नहीं है। पहरावे और आकार के तत्त्वों के संगुफित होने से यह नृत्य जीवन के प्रति नव-दृष्टि प्रदान करता है, जिसमें एक तत्त्व दूसरे से मिलकर सम्पूर्ण सौंदर्य की अक्कासी करता है।"[3]

आनुष्ठानिक नृत्य सरल एवं सादा होते हैं। किन्तु बाहरी सादगी के

---

1. कपिला वात्सायन ; ट्रेडीशंज ऑफ इंडियन फोक डांस ; पृ० 19
2. वही ; पृ० 22
3. वही ; पृ० 29

बावजूद यह अत्यन्त प्रतीकात्मक भी होते हैं, जबकि मंडल और वृत्त गहन आध्यात्मिक आस्था को संकेतित करते हैं।"[1]

कुड्ढ नृत्य : डुग्गर की जीवंत नृत्य परम्परा :

डुग्गर के परम्परागत नृत्यों में सर्वाधिक लोकप्रिय तथा अभी भी नाचे जाने वाले नृत्यों में कुड्ढ का विशिष्ट स्थान है। इस की सब से बड़ी विशेषता यह है कि यह अभी तक अनुष्ठान से सम्बद्ध है। "इसके द्वारा कृषक स्थानीय ग्राम देवता के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता है। यह नृत्य सावन के महीने में जब मकई की कटाई सम्पन्न हो जाती है तब ग्राम देवता के स्थान के समीप नाचा जाता है।"[2] किन्तु परम्परा यह है कि डुग्गर में राखी के त्योहार से हर प्रकार के नृत्यों का आरम्भ हो आता है। इसी दिन से लोक-देवताओं की 'जात्तरें' शुरू हो जाती हैं जिनमें लोक-देवताओं के प्रतीकों की शोभा यात्रा निकाली जाती है। ढोल के ताल पर नृत्य मंडलियां, देवता के पुजारी या ओझा के नेतृत्व में नाचती हुई एक गांव से दूसरे गांव में घूमती हैं। इस शोभा यात्रा में 'कारक' नामक लोक गाथाएं गाई जाती हैं। स्वरूप की दृष्टि से शोभा यात्रा में नाचे जाने वाले नाच अनुष्ठान का अंग होते हैं। डोगरा क्षेत्र में कुड्ढ नृत्यों की शुरुआत भी राखी के दिन से होती है।

लेखराज भद्रवाही के अनुमार "कुड्ढ" का अर्थ है, "लोगों का जमघट" जबकि विश्वनाथ खजूरिया के अनुसार इसका अर्थ है मेला। मेले में नाचे जाने के कारण ही इसे "कुड्ढ" कहा जाता है। दोनों लेखक कुड्ढ" का अर्थ देते हुए अर्थ व्याख्या के लिए इस नृत्य के नाचे जाने के अवसर को आधार बनाए हुए हैं, जबकि "कुड्ढ" शब्द के मूल अभिधार्थ दो हैं—1. गुफा 2. जल का सोता। इन अर्थों से नृत्य परम्परा को संबंधित करने पर यह ज्ञात होता है कि कुड्ढ मूलत: तब का नृत्य है जब मनुष्य गुफा में रहता था। जल के सोते को डोगरा क्षेत्र में 'नाग' भी कहते हैं। सम्भवतय: कुड्ढ मूलत: नाग और जल देवता की पूजा का नृत्य रहा है जिसे डोगरा क्षेत्र की नाग जाति अपने पुरातन अनुष्ठानों के साथ नाचती रही होगी। इस विश्वास की पुष्टि इस बात से होती है कि आज भी अधिकतर ठक्कर और हरिजन लोग ही 'कुड्ढ' नाचते हैं। ब्राह्मण जातीय लोग अनेक वर्जनाओं के वशीभूत इस नृत्य में प्राय: भाग नहीं लेते। कुड्ढ में ढोल, बांसुरी एवं रणसिंहा आदि के वादक प्राय: मेघ जाति के होते हैं। भद्रवाही क्षेत्र में इन्हें चनाली कहते है।

कुड्ढ प्राय: निम्न प्रयोजन से नाचे जाते हैं—

देवता के निमित्त, मनौती के लिए।

---

1. वही ; पृ० 28
2. कपिला वात्स्यायन ; ट्रेडीशंज़ ऑफ इंडियन फोक डांस ; पृ० 36

पूर्वजों की प्रसन्नता के लिए। जिस तरह जम्मू के कंढी क्षेत्र में सती-सजावतियों और शहीदों के देहरों पर मेला लगता है उसी भांति पहाड़ी क्षेत्र में इनके स्थानों पर भी कुड्ढ नाचा जाता है। भद्रवाह क्षेत्र में इसे 'शादू कुड्ढ' कहते हैं। इस दृष्टि से 'कुड्ढ' नृत्य का एक निमित्त पूर्वज-पूजा भी है।

ब्याह की खुशी में

नई फसल निकलने की खुशी में, अच्छी उपज होने पर और फसल कटने तक कोई दैविक अथवा प्राकृतिक व्यवधान उपस्थित न होने पर देवता को धन्यवाद ज्ञापित करने के लिए।

ऋतु बदलने पर भी कुड्ढ का आयोजन किया जाता है। इसे 'खुशिया कुड्ढ' कहा जाता है। यह मन की मौज के लिए नाचा जाने वाला 'कुड्ढ' है। चूंकि यह आनुष्ठानिक कृत्य के तौर पर नहीं नाचा जाता, इसलिए इसमें दिलफेंक लोग अठखेलियां करते हुए हार्दिक भावनाओं को मुखर करते हैं।

कुड्ढ का आनुष्ठानिक प्रतीक :

जो कुड्ढ आग के अलाव के चौगिर्द नाचा जाता है, उसे प्राय: नाग देवता अथवा किसी अन्य ग्राम देवता के आंगन में नाचा जाता है। डोगरी में इसे 'देवक कुड्ढ' और भद्रवाही में 'ज़ागरू' कहा जाता है। मंडलाकार नृत्यों में इस नृत्य को विशिष्ट स्थान प्राप्त है। नर्तक नाच के दौरान अलाव की 360 परिक्रमाएं लेता है। इन परिक्रमाओं का आनुष्ठानिक प्रतीक अर्थ यों है—

1. वर्ष भर सुख समृद्धि रहे
2. फसलों की अधिक उपज हो
3. सूर्य की ऊर्जा जीवन चक्र को शक्ति प्रदान करे।

पौ फटने से पूर्व अलाव को बुझा दिया जाता है। लोक-विश्वास है कि यदि अलाव की आग को सूर्य का प्रकाश निकलने से पूर्व न बुझाया जाए तो आनुष्ठानिक कामनाएं पूर्ण नहीं होतीं। पहाड़ी क्षेत्र के लोगों का मानना है कि इस नृत्य द्वारा राजा वासुकि (नागराज) प्रसन्न होकर रोगों से रक्षा करते हैं तथा बहुतायत में अन्न-दाने का वरदान देते हैं। उनकी कृपा से पशु धन निरोग रह कर वृद्धि प्राप्त करता है।

कुड्ढ नाच प्राय: किसी देव-अनुष्ठान के समापन समारोह के रूप में नाचा जाता है। पुजारी, भक्त गण, नर्तक, तथा दर्शक पहले तो मशालें थामे हुए छोटे-से अलाव की परिक्रमा करते हैं, तत्पश्चात लकड़ी की जलती मशालें अलाव में फेंक कर और कुछ दूर हट कर एक बड़े घेरे में खड़े हो जाते हैं। इस घेरे के भीतर नर्तक दूसरा घेरा बना कर नाचना शुरू करते हैं। मधुर बांसुरी और

ढोल के गम्भीर ताल पर पांव उठते है। उल्लास में थिरकते नर्तक अपने अंगों का संचालन करते हुए झूम-झूम कर नाचते हैं ।

'बनी' ब्लाक (जिला-कठुआ) में गद्दी जनजाति का अपना विशिष्ट लोक-नाच है। देशबंधु डोगरा नूतन ने इसे गद्दियों का कुड्ढ कहा है।[1] हालांकि यह बहुत कुछ कुड्ढ से ही मिलता-जुलता है, परन्तु शिव उपासक "गद्दी" जनजाति के इस परम्परागत नृत्य की अपनी अलग आनुष्ठानिक प्रासंगिकता है। वे इसे कुड्ढ न कह कर "लास्त" कहते हैं। "लास्त" संभवतया संस्कृत शब्द लास्य का विकृत रूप है। लास्य प्रायः शिव जी की एक नृत्य मुद्रा को कहा जाता है। गद्दी जन-जाति द्वारा नाचे जाने वाले इस लोक-नृत्य का सम्बन्ध शिव परम्परा के किसी नृत्य से है।

डोगरा लोक-नृत्यों पर आधिकारिक दृष्टि से खोज करने वाले लेखक विश्वनाथ खजूरिया ने 'ढेकू' नामक किसी लोक नाच का वर्णन भी किया है। उनके कथनानुसार यह जम्मू के पहाड़ी क्षेत्र का मनमोहक नाच है। बहुत प्रयत्न करने पर भी हमें इस नृत्य शैली का पता नहीं चल पाया। वस्तुतः विश्वनाथ खजूरिया किसी भ्रमवश इसे एक अलग नाच मान बैठे हैं, जबकि 'ढेकू' मात्र एक ताल है जिसे कुड्ढ के दौरान ढोल पर बजाया जाता है। इसी लिए ढोल बजाने वाले को कई बार नर्तक कहता सुनाई पड़ता है कि अब 'काह्‌रा ढेकू' (इकहरा ताल) लगाओ। इससे पूर्व नर्तक दुहरे ढेकू पर नाच रहे थे। इकहरा ढेकू धीमा ताल होता है और नर्तक अपने कदम आहिस्ता-आहिस्ता और मस्ती में भर कर उठाते है, जबकि दुहरा ढेकू तुलनात्मक दृष्टि से तेज होता है, इससे पैरों में तीव्र गति भर जाती है।

कंढी का नाच फुम्मनी :

फुम्मनी डुग्गर के कंढी क्षेत्र का लोकप्रिय नृत्य है। इसे लोक-देवता के निमित्त निकाली गई "यात्रा" या "गगैह्‌ल" के अवसर पर नाचने की प्रथा है। "यात्रा" एवं "गगैह्‌ल" का समारम्भ भी राखी के दिन से होता है। देवता को पालकी अथवा "चौकी" में डाले हुए ग्रामीण लोगों का दल गांव के प्रायः प्रत्येक घर में जाता है। जिस घर में लोक-देवता की स्थापना की गई हो वहां शोभा यात्रा में सम्मिलित लोक-नर्तकों का दल जम कर नाचता है। नर्तकों में मात्र पुरुष होते हैं जिन्होंने पैरों में घुंघरू बांध रखे होते हैं। धीमी गति से शुरू होकर यह नृत्य तीव्रतर होता जाता है। धार्मिक उत्साह में नाचने वाले अपने पैरों की धमक से कई बार आंगन की मिट्टी तक उखाड़ देते हैं। गगैह्‌ल का सम्बन्ध गोगा चौहान से है जिसे डोगरा क्षेत्र में लोक-देवता के रूप में

1. डुग्गर दा सांस्कृतक इतिहास (सम्पा० ओम गोस्वामी) पृ० 43)

प्रतिष्ठित किया गया है। गगैह्ल की लोकप्रियता के कारण कई बार दूसरे ग्राम देवताओं की शोभा-यात्रा के लिये भी भ्रमवश "गगैहल" शब्द का प्रयोग सुना जाता है।

नाग पंचमी और गोगा नवमी को "फु'म्मनी" नाच अपने उत्कर्ष पर होता है। नर्तक सी-सी, सू-हू की आवाजें निकालते हुए हाथों की प्रतीकात्मक मुद्राएं बनाते हैं। "सी-सी, सू-सू" की ध्वनियां नाग के मौज में झूमने की प्रतीक हैं, जबकि हाथों द्वारा कलि के खिलने के प्रतीक के ज़रिये नवजात शिशु के युवा होने का रूपक प्रस्तुत किया जाता है।

गगैह्ल के आगे लोक-देवता का झंडा और झुंडे (सांकलें) उठाए "चेल्ला" चलता है। "रंग-बिरंगे वस्त्र पहने नर्तक नाचते हुए वासुकि नाग और सुरगल देवता से अपने बाल-बच्चों और माल-मवेशी की सुरक्षा की प्रार्थना करते हैं।"[1] शोभा-यात्रा के दौरान देवता की जय बुलाई जाती है। अखनूर की ओर "गगैह्ल" कृष्ण जन्माष्टमी को सम्पन्न हो जाती है। इस दिन देवता के स्थान पर सामूहिक प्रीतिभोज किया जाता है। देवता के नाम पर एक बड़ा रोट पकाया जाता है। जिस स्थान पर रोट पकाया जाता है वहां किसी स्त्री का जाना वर्जित होता है। इस पकवान का नैवेद्य देवता को चढ़ाने के उपरांत शेष की चूरी बना कर लोगों में प्रसाद बांटा जाता है। इस विवरण से स्पष्ट है कि फु'म्मनी नृत्य भी मूलतः आनुष्ठानिक लोक-नाच है।

फु'म्मनी ऊन या पशमीने के फुंदने को कहते है जो प्रायः पहाड़ी टोपी पर लगा रहता था, परन्तु देवानुष्ठान में फु'म्मनी से तात्पर्य सहज भाव से नाचना है। संभव है पुराने वक्तों में नर्तक सिर पर फुंदनेदार टोपी या पगड़ी में पंछी के पंखों की कलगी लगा कर नाचते रहे हों।

कहीं-कहीं फु'म्मनी के साथ 'डंडारस' भी की जाती है। डुग्गर में डांडिया रास को डंडारस कहा जाता है। परन्तु डुग्गर में डंडारस गुजरात से नहीं आई, बल्कि जम्मू और गुजरात दोनों जगह इसका प्रचलन वृन्दावन की रासमंडलियों द्वारा हुआ है। रास लीला में महारास के प्रसंग में लीला-पुरुषोत्तम कृष्ण नाचते हुए डंडों से रास को उत्कर्ष पर ले जाते हैं। रास मंडलियों से डंडारस को डुग्गर के आनुष्ठानिक नृत्य फु'म्मनी में सम्मिलित कर लिया गया है। यह आधान सामंतकाल में कभी हुआ होगा। "डंडारस" के दौरान डंडों के ताल पर नृत्य में तेजी आती है। डंडों की आवाज़, घुंघरूओं की छन-छन, अलगोज़ों की आकर्षक तान और ढोल की थाप मन में उमंग और मुद्रा में तरंग भर देती

---

1. ओ० पी० शर्मा; फोक डांसिज़ ऑफ शिवालिक्स (कश्मीर टाईम्स, 9 फरवरी 1983)

है। इस नृत्य को ज्येष्ठ मास में हिन्दू और मुसलमान मिल कर सूफी पीरों के पीरखाने के पास भी नाचते हैं।

हरण और गीतड़ू :

"हरण" नामक संगीत-रूपक में नाटक के साथ-साथ नृत्य इसका महत्वपूर्ण अंग होता है। हरण का सम्बन्ध लोह्ड़ी के त्योहार से है। "हरण" मंडली में एक सजे-धजे हिरण के साथ दो सखियां, एक साधु या नारद तथा दल के अन्य सदस्य होते हैं। हिरण दो व्यक्ति मिल कर बनाते है। आगे वाले व्यक्ति ने हिरण का लकड़ी का मुखौटा पहन रखा होता है, उसके सिर पर लकड़ी के सींग और तवा बन्धा रहता है। सुबह-सवेरे हरण दल गांव के घरों में जाकर लोहड़ी की खुशी में नाचना शुरू करता है। बंद द्वार पर जब हिरण सिर से टक्कर लेता लगाता है तो लोहे के तवे के कारण जोरदार ध्वनि होती है। दल के लोग गाते हैं—

"हरणा, हरणा छालीं दे,
सुत्ते दे बझाली दे ।"

अर्थात्—हिरण रे हिरण, छलाँग लगाओ और सोए हुए लोगों को जगा दो।

हिरण घर के आंगन में एक सीधी रेखा में आगे-पीछे घूम-घूम कर कदमों की लय पर नाचता है। इसके साथ ही सखियां भी नाचने लगती हैं। स्त्री के भेस में लड़के सखी बने रहते हैं। लोक शैली का यह नृत्य खुशी प्रकट करने का सहज माध्यम हो जाता है।

डुग्गर की पहाड़ियों में नृत्य और गायन का अद्भुत संगम "गीतड़ू" के रूप में दिखाई देता है। "गीतड़ू" की पेशेवर मंडलियाँ ब्याह-शादी और खुशी के दूसरे मौकों पर उनका उचित मानदेय देकर बुलाई जाती है। गीतड़ू गायक एवं नर्तक छोटी जातियों से सम्बन्धित होते हैं। इन मंडलियों में कहीं-कहीं लड़कियां भी गाने और नाचने का काम करती हैं। तहसील रामनगर के पहाड़ी क्षेत्रों में तो कई गीतड़ू दलों की संचालिकाएं ही युवा लड़कियां हैं। गीत गायन के दौरान सहसा वह उत्कर्ष बिंदू आन पहुंचता है जब मस्ती में आकर नर्तक अथवा नर्तकी उठ कर झूमने नाचने लगते हे। ढोलक और चीमटे के संगीत पर बहुधा वृत्तात्मक लय में शरीर गतिशील होता है। शैली एवं मुद्राएं लौकिक हैं। कहीं-कहीं जहां दो गीतड़ू दल न्यौते गए होते हैं, वहा दोनों दलों में गाने और नाचने की प्रतियोगिता शुरू हो जाती है। प्रत्येक दल अपना सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन देने का प्रयास करता है।

समय के गर्भ में गुम पतंगी :

"होली" के पर्व पर जम्मू में कभी "पतंगी" नामक संगीत-रूपक नगर

के सास्कृतिक जीवन का विशेष अंग हुआ करता था । यह लगभग एक दर्जन घुमंतू लोक-नर्तकों का दल हुआ करता था जो नाचने के साथ-साथ गीत भी गाता । इस दल का मुखिया तंत्र-मंत्र का ज्ञाता अथवा किसी लोक-देवता का चेला हुआ करता था। वह एक मृण्भांड के तले में जलते अंगारे डाले इसे सिर पर लपेटे कपड़े पर उठाए रखता । अंगारों पर गूगल आदि धूप डाला जाता जिससे सुगन्धि की लपटें दूर-दूर तक फैल जातीं । पतंगी दल में बहुधा 'महाशा' जाति के लोग हुआ करते थे । इस से यों लगता है कि यह हरिजन वर्ग द्वारा निकाली जाने वाली अपने देवता की "यात्रा" रही होगी । यह मंडल क्षेत्र के गरीब लोगों के घरों का फेरा डालती और जहां कहीं अखाड़ा लग जाता वहीं चुटीले हास्य व्यंग्य के साथ नृत्य भी प्रस्तुत किया जाता । सन् 1950 ई० के बाद पतंगी निकलना बन्द हो गई । किन कारणों से ? कोई नहीं जानता । □

डुग्गर की लोक कलाओं में पर्व सज्जा

□ सुरेन्द्र पाल गंढलगाल

मानव द्वारा प्रक्षेपित उत्कृष्ट व्यंजनाएं ही मानव को प्रकृति की सर्वाधिक विकसित एवं सर्वोत्तम कृति होने का श्रेय प्रदान करती हैं। अपनी विकास-यात्रा से सुलभ अनेकानेक तत्वों को सर्वहित के लिए प्रतिपादित करना मानव स्वभाव का एक वैशिष्ट्य रहा है। कालांतर में उसका यह अनुराग ही सम्भवत: विभिन्न लोक-परम्पराओं के रूप में उभरा है। कहना अनुचित न होगा कि मानव-जीवन का आलेखित यह अनुपम भाव-सौंदर्य उल्लेखनीय अथवा प्रसंशनीय ही नहीं, दर्शनीय भी है। इस संदर्भ में धरती के प्रत्येक खंड-उपखंड का एक अपना आकर्षण, अपनी पहचान है। परम्पराओं, प्रथाओं एवं रीति-रिवाजों के निर्वाह में आंचलिकता की एक अपनी भूमिका रही है।

डुग्गर के जन-जीवन की यह बहुरंगी छटाएं देखते ही बनती हैं। भोजन, वस्त्र, आवास इत्यादि संदर्भों में विभिन्न व्यवस्थाएं डुग्गर के जन-मानस की उज्जवल चेतना की परिचायक हैं। संपूर्ण लोक- व्यवहार की यह गौरव-गरिमा सम्भवत: यहां के पर्व त्योहारों से भली-भांति प्रदर्शित होती है। मुख्यत: प्रत्येक पर्व-त्योहार पर संपादित पर्व-सज्जा स्वत: ही इनका संपादन भी करती है। एक ओर इसमें लोक-कलाओं का वैचित्र्य है तो दूसरी ओर जीवन-दर्शन के किन्हीं मर्मों का स्पर्श सान्निध्य भी। विभिन्न संस्कारों, समारोहों इत्यादि के आयोजनों में भी इसके अनेक रूप देखने को मिलते हैं।

प्रत्येक शुभ-कार्य में अपनी घर-गृहस्थी को सजाने-संवारने की प्रवृत्ति यहांके जन-मानस में प्रमुख है :—

चौका-पट्टा

अधिकांश जन-साधारण के घर-मकान कच्चे हैं तथा इन्हें मिट्टी, मकोल, गोबर इत्यादि के प्रयोग से सजाया जाता है। पीत-हरित गोबर के लेपन तथा

इसकी सीमा-परिधि को हल्के-सफेद मकोल (परोले) के पोच्चे (सफेद हाशिये) का सृजन जिसे 'चौका' और 'पट्टा' कहा जाता है। इससे घरों को प्राय: सज्जित किया जाता है। इस के लिए गोबर अथवा मकोल को यथा आवश्यकता नरम एवं पतला करने के लिए पानी का प्रयोग किया जाता है। घर-आंगन के चारों ओर दीवारों पर बढ़े हुए छत के अगले भागों की ऊपरी सतह इत्यादि को भी विभिन्न रंगों की मिट्टी, गोबर, मकोल इत्यादि के प्रयोग से संवारा, सजाया जाता है।

विभिन्न चित्र-लेखनों पर आधारित गोबर लेपन के भी विविध प्रकार है :

गोबर-लेपन की इस चित्र-लेखन विधि में गोबर को हाथ से भूमि-तल पर अर्ध-गोलाकार बार-बार घुमाया-फिराया जाता है जिससे गोबर-लेपन के अर्ध-गोलाकार चिह्न चित्रित हो जाते हैं। इस ढंग के गोबर-लेपन को प्राय: 'मुहारें आह्ला चौका' कहा जाता है।

'बिन्ने वाला चौका'

'बिन्ना' वास्तव में पुआल, तीलियों, पत्तों इत्यादि से निर्मित बैठने के लिए एक वर्गाकार आसन होता है। 'बिन्ने' की सी आकृति के उरेहन को 'बिन्ने आह्ला चौका' कहा जाता है।

घर आंगन के चारों ओर दीवारों पर लेपन में गोबर एवं विभिन्न रंगों की मिट्टी द्वारा विभिन्न आकृतियों को मुद्रित करने का भी रिवाज है।

गोबर-लेपन प्राय: मंगलवार, वीरवार तथा शनिवार को नहीं किया जाता। इसे अशुभ माना जाता है। फिर भी किसी कारण यदि इन दिनों गोबर-लेपन करना ही हो तो गोबर में थोड़ी सी मिट्टी प्रयोग कर ली जाती है। गोबर-लेपन को दूब की कुछ हरी पत्तियां भेंट कर बंदना कर लेने उपरान्त ही इस पर पांव रखना शुभ माना जाता है।

परोला

घर आंगन के चारों ओर दीवारों, छत के बढ़े हुए भागों की ऊपरी सतह इत्यादि को मात्र मकोल (परोला) के प्रयोग से ही सज्जित करना भी जन-मानस की रूचि में सम्मिलित है। मात्र मकोल के इस प्रयोग को 'परोला देना' कहा जाता है।

फूल लीकना

विशेष स्वागतावसरों पर घर के सम्बन्धित कक्ष का फर्श 'चौके-पट्टे' से सजाया जाता है। कक्ष के प्रवेश द्वार में भीतर की ओर भूमि पर विभिन्न

घुले-रंगों से चित्र लेखन किया जाता है द्वार की ओर से प्राय: लम्बे आकार का सीढ़ी-नुमा वृत्त बना दिया जाता है। यह गोलाकार चित्रित स्थान पधारने वाले व्यक्ति के बैठने के लिए सुनिश्चित होता है तथा यहां पर यथोचित आसन की व्यवस्था भी रहती है जबकि सीढ़ीनुमा चित्रित भाग के पग-पग पर (मुख्यत: नव-वधु के गौने के उपलक्ष्य में) रूई की पूनियां बिछा दी जाती है। संभवत: पधारने वाले व्यक्ति के स्वागत में उसे रूई समान कोमल-पथ प्रदान करने को ऐसा किया जाता है। 'फूल लीकना' मान्यतानुसार प्राय: नव वधु, तीर्थ यात्रा से वापिस लौट रहे व्यक्ति इत्यादि के स्वागतार्थ ही किया जाता है।

चौक लिखना

सोहानी, छट्ठी, गान्ना मुंडन इत्यादि संस्कारों में प्राय: 'नाईन' द्वारा आट्टे के प्रयोग से वर्गाकार लेखन, 'चौक लिखना' कहलाता है। इस पर किसी अनाज की पांच अथवा सात ढेरियां लगाकर एक पीढ़ा सजा कर सम्बंधित सुहागिन को बैठाते हैं जिसे वहां बैठे हुए नये वस्त्राभूषण पहनाने, सिर गूंथने, श्रृंगार करने इत्यादि के कार्य सम्पन्न कर अन्य स्त्रियों द्वारा शगुन दिया जाता है। पीढ़े पर बैठी सुहागिन के सामने इस दौरान 'टुप्पा' में (अनाज का एक स्थानीय मापक) कुछ अनाज डाल कर एक मिट्टी का दीपक जो सरसों, तिल आदि के तेल से प्रज्वलित रहता है रख दिया जाता है।

गोदन

थेई में गाय के गोवर से चार थनों जैसी एक आकृति बनाई जाती है। जिसे प्राय: रसोई में चौका पट्टा डालने के उपरान्त स्थापित कर गृहिणी द्वारा वड़ी श्रद्धा से अन्न, दूध, दही इत्यादि भेंट किए जाते हैं तथा वंदना की जाती है जिसे तदुपरान्त उठा कर 'को-को' कहकर कौओं के लिये छत पर डाल दिया जाता है।

कट्टे-बच्छे

जन्माष्टमी के पर्व पर प्राय: लोक मानस में दूध-दही के रख-रखाव में प्रयुक्त विभिन्न पात्र-उपकर्ण, दूध-दही को दोहने-विलोने वाली स्त्री इत्यादि की मिट्टी द्वारा विविध आकृतियां बनाई जाती हैं जिनको विविध व्यञ्जन भेंट कर वंदना की जाती है तथा फिर इन्हें किसी जल-धारा में प्रवाहित कर दिया जाता है।

शिव

शिव-रात्रि के पर्व पर कुम्हार द्वारा मिट्टी से निर्मित शिव प्रतिमा जिसके शीर्ष भाग पर सरसों के पीले फूल एवं जौ के दाने लगाए गये होते हैं, का पूजन

किया जाता है जिसे पूजनोपरान्त खेतों में प्राय: लगी फसलों के बीच फसल-रक्षा हेतु रख दिया जाता है।

नाग

जनमानस में नाग पंचमी के दिन प्राय: दीवारों पर नाग की आकृतियों को चित्रित कर पूजा अर्चना करने की प्रथा भी विद्यमान है।

अहोई

झीवर घरानों में अहोई-अष्टमी को अहोई के चित्र प्राय: दीवारों पर विभिन्न रंगों से चित्रित किए जाते हैं जबकि अन्य लोगों के यहां यह चित्रण प्राय: टोकरे-टोकरियों का लेपन कर झीवर द्वारा ही सम्पन्न किया जाता है। अहोई चित्रण में भी अहोई की पूजा अर्चना की जाती है। इस प्रथा में अहोई से सम्बन्धित बहुत सी दंत कथाएं भी प्रचलित हैं।

कुम्भी, जजली, द्रैंस, तोरण

युवक-युवतियों के विवाह संस्कारों में कुम्भ, जजली, द्रैंस, तोरण इत्यादि विशेष आकार की कलाकृतियों का एक अपना महत्त्व है। 'कुम्भ-जजली' का निर्माण कुम्हार मिट्टी द्वारा करता है जबकि 'द्रैंस-तोरण' का निर्माण बढ़ई लकड़ी द्वारा करता है। यह सभी कलाकृतियां मांगलिक प्रतीक होने के साथ-साथ अपनी एक पौराणिक पहचान भी रखती हैं।

जगनमाला (वंदनवार)

विशेष शुभावसरों पर रंग-बिरंगे कागज़ों की कतरनों से निर्मित झंडियों को विभिन्न ढंगों से सजाया जाता है जिसे प्राय: जगनमाला का नाम दिया जाता है। विशेषतया विवाह में पुरोहित द्वारा आम के पत्तों की माला पिरो कर गृह द्वार पर लटकाने को भी जगन-माला सजाना कहा जाता है।

लोहड़ी

लोहड़ी के पर्व पर अग्नि पूजा के लिये अंगीठी का निर्माण मिट्टी से किया जाता है जो आकार में प्राय: चौकौर, गोल होती है। फिर उसे गेरू, हल्दी, चावल के आटे आदि के रंगों से चित्रित किया जाता है। तदुपरान्त अग्नि-पूजा के समय अंगीठी में अग्नि जलाई जाती है तथा इस में घर के सभी सदस्यों द्वारा मक्की के फूलों (खीलों), अखरोटों त्रिचौली इत्यादि का अर्घ्य दिया जाता है।

नवरात्र

इस पर्व की सज्जा का एक अपना ही स्वरूप है जिस में प्राय: लड़कियां

भाग लेती हैं तथा इस पर्व-सज्जा में विशिष्ट भूमिका निभाती हैं। घर के किसी विशेष कक्ष में एक दीवार पर आराध्य देवी 'दुर्गा' की आकृति जो प्राय: मिट्टी से ही बना ली जाती है पैसों, कौड़ियों और फूल मालाओं से सजाया जाता है और लाल कपड़े के पर्दे की ओट कर दी जाती है। फिर 'दुर्गा माता' की पूजा अर्चना का कार्य नवरात्र भर चलता रहता है। 'दुर्गा-माता' की प्रतिमा के सम्मुख एक क्यारी सी बना ली जाती है जिसमें कुछ जौ के बीज बो कर 'साख' भी उगाते हैं—इसे प्राय: माता की क्यारी कहते हैं। नवरात्रों के समापन पर लड़कियां काह्‌न गोपियों के वेष में नाचती आनंद मनाती तथा भजन-कीर्तन करती हैं।

भूमा अष्टमी

भूमा अष्टमी से भूमा पूर्णमाशी तक आठ दिन के लिए लड़कियां अपने गली-मुहल्ले में भुआयां फिरती हैं। सम्बंधित लड़कियों के समूह में से दो लड़कियां 'गुरी' तथा 'गुरा' बनी होती हैं। 'गुरी' तथा 'गुरा' गोटे-किनारी इत्यादि से सजे झग्गे एवं मुकुट पहने रहती हैं। एक दुप्पट्टे का कमर कसा भी बंधा रहता है तथा एक दुपट्टा दोनों बगलों से निकाल कर विपरीत कंधों पर भी डाला गया होता है। 'गुरी-गुरा' अन्य लड़कियों के संग घर-घर जा कर भुआयाँ-गीत गाते हैं तथा वहां से अनाज, पैसे आदि भेंट स्वरूप प्राप्त करते हैं।

रुट्ट राह्‌ड़े

राह्‌ड़ों के स्वरूप में भूमि-चित्रण इस पर्व की मुख्य विशेषता है। लगभग एक माह तक चलने वाले इस पर्व-आयोजन में प्रत्येक सप्ताह के अंत में, भूमि में रोपित अपने-अपने 'राह्‌ड़ों' ऐसी रचना (मिट्टी के घड़ों के ऊपरी भाग गले कच्ची भूमि में गाड़ कर जिनमें विविध अन्न बीज बो दिये जाते हैं) को लड़कियां बखूबी विभिन्न रंगों से चित्रित करती हैं तथा ऋतु-गीत गाती हैं। फिर संध्या को किसी जलाशय की ओर अपना-अपना भोजन उठाए चल देती हैं—यहां किसी प्रीति-भोज के समान इकट्ठे मिल-बैठ कर भोजन करती हैं। आते-जाते रास्ते भर में लड़कियां गीत गाती रहती हैं—लगता है मानो ऋतु गीतों की झड़ी सी लग गई हो। इस सारे प्रकरण को 'रुट्ट खेलना' कहा जाता हैं।

दीपावली

दीपावली के पर्व पर चौका-पट्टा आदि की सज्जा सहित जो सजावट की जाती है उसमें पत्र सज्जा एवं 'दीपमाला' मुख्य हैं। पत्र सज्जा शिरीष, पड़ कंडा आदि जड़ी बूटियों के लिये पड़कंडा इत्यादि के पत्ते-टहनियों आदि को गृह द्वारों, खिड़कियों, घरेलू पशुओं को बांधने वाली रस्सियों-जंजीरों आदि

में टांग या बांध दिया जाता है। मिट्टी के दीपों, मोमबत्तियों आदि से दीप-माला भी की जाती है। रात्रि को लक्ष्मी के प्रतीक में एक विशेष मांगलिक चिन्ह को घर के किसी कक्ष में दीवार पर विभिन्न रंगों से चित्रित कर लक्ष्मी-पूजा भी की जाती है। विश्वकर्मा-पूजन भी इसी दिन की अन्य विशेषता है। सम्वंधित लोग अपने कारोबारी संस्थानों को प्रायः विभिन्न रंगों से चित्रित करते सजाते हैं जो सांस्कृतिक जन चेतना का सहज प्रतिविम्ब है।

कहना न होगा कि डुग्गर के पर्व-त्योहारों की पर्व-सज्जा का एक अपना विशिष्ट महत्व है। जिनमें बिम्बित विभिन्न रंग-रहस्यों की झलक सहज ही उपलब्ध है। □

डुग्गर के लोक कलात्मक खेल-खिलौने

□ शिवदेव मन्हास

आदि-काल से मानव का खेलों के प्रति विशेष आकर्षण रहा है। खेलों की शुरूआत उसने मनोरंजन हेतु की होगी—ऐसा सहज ही अनुमान किया जा सकता है। किसने सोचा था कि समय काटना ही एक दिन उसका व्यवसाय बन जाएगा। जहां आज खेल मानवीय विकास के नए-नए क्षितिज खोज रहे हैं वहां डुग्गर का लोक-मानस भी वैज्ञानिक युग के खेल और खिलौनों से अछूता नहीं रहा है। कभी अपने सीमित साधनों से ही वह अपना जी बहला लिया करता था। पिछड़ेपन के कारण उसका दैनिक जीवन अत्यन्त सादा था। यही सादगी उसकी लोक कलाओं से भी प्रतिबिम्बित थी।

जम्मू का जन-मानस अपनी लोक कलाओं में खेल-खिलौनों को भी उतना ही महत्व देता था, जितना अन्य चीजों को। यही कारण है कि उसकी जीवन-चर्या में देसी खिलौनों का विशेष स्थान रहा है।

जम्मू के लोक कलात्मक खिलौनों के निर्माण में निम्नलिखित स्रोत प्रमुख रहे हैं—

मिट्टी

काष्ठ

नरकुल

कपड़ा

धातु

मिट्टी के खिलौने

'कुछ भी बेकार नहीं होता' की उक्ति को जैसे डुग्गर समाज ने आत्मसात कर लिया था। खाली अथवा बेकार टीन, डिब्बा, लकड़ी, मिट्टी, बोतल,

कागज़, कपड़े आदि तक को खिलौनों के लिए प्रयुक्त करने वाले लोक-कर्मियों के लिये मिट्टी बड़ी उपयोगी वस्तु रही है।

मिट्टी का उपयोग यहां पर दो प्रकार के लोग करते थे

(अ) लोक कलाकार जैसे कुम्हार आदि।

(आ) जनसाधारण जैसे बच्चा और उनके अभिभावक।

(अ) लोक कलाकारों में कुम्हार जाति के लोग मिट्टी के अधिक करीब थे। वे बरतनों व अन्य जीवनोपयोगी वस्तुओं के साथ-साथ बच्चों के खिलौने भी बनाते थे। मिट्टी को सर्व प्रथम पानी में गूंथा जाता था फिर सांचों में डाल कर आकार दिया जाता था। बाद में उन्हें भट्ठी में तपा कर पकाया जाता था। कुछ खिलीनों को यहां रंगने की भी परम्परा थी। कुम्हारों द्वारा निम्नलिखित खिलौने बनाए जाते थे--तोते, मोर, छोटे बर्तन, गुल्लकें चक्कियां इत्यादि।

(आ) आम जनता भी मिट्टी का उपयोग खिलौने बनाने के लिए करती थी। कहीं बच्चे स्वयं और कहीं उनके अभिभावक मिट्टी को पानी में मल-मल कर उन्हें आकार देते थे। बाद में उन मिट्टी के खिलौनों को धूप में सुखा लिया जाता था। इस प्रकार निम्नलिखित बालोपयोगी खिलौने बनाए जाते थे—

बर्तनों में—पतीले, ढक्कन, गिलास, थाली, कटोरी, चूल्हा, चक्की, चकला, बेलन घड़ा आदि।

खिलौनों में—तोता, मोर, चिड़िया, गुड़िया, घोड़ा, झुनझुना, भेड़, बकरी, सांप और बाल-कृष्ण की मूर्ति आदि।

लकड़ी के खिलौने

लकड़ी भी खिलौनों के निर्माण में प्रयुक्त होती थी। इन्हें डुगर की एक विशेष बढ़ई जाति ही काटती तराशती और खिलौनों का आकार देती थी। यह जाति खड़गड्डे, तोते, मोर, चिड़िया, हाथी, कुत्ते, भेड़े, बकरियां, गुल्ली-डंडा, चकले, बेलन, झुनझुने, गुल्लकें आदि बनाया करती थी। बाद में ये लोग इन खिलौनों को हाट बाजार या मेले में बेचते थे।

बंजारा जाति के लोग बांस और लकड़ी से वाद्य खिलौने बनाते और इन्हें घूम फिर कर अथवा मेलों-त्योहारों पर बेच कर अपनी आजीविका के लिये धन जुटाते। ये लोग बाजे, इकतारा, बीन, सारंगी, बांसुरी आदि खिलौने बनाया करते थे।

नरकुल के खिलौने

जम्मू का अधिकतर भाग मैदानी और कंडी होने के कारण यहां पर 'काई-नरकुल' आम उपलब्ध हो जाते हैं। नरकुल से सांप, मछली, झुनझुने, घोड़े आदि बनाये जाते थे। इस प्रकार के खिलौने आम लोग भी सहज ही बना लेते थे।

अजगर—इस खिलौने को वनाने के लिए कुछ छोटे कील या पिनें, थोड़ा नरकुल थोड़ा काले रंग का मोटा कागज तथा सांप की आंखें व जीभ दिखाने के लिये सफेद और लाल कागज की कतरनें चाहिए होतीं। इस छोटे फोल्डिग खिलौने को पिनों या कीलों से इस प्रकार जोड़ा जाता है कि इसे खोलने पर यह कई फीट दूर जा पहुंचता है पर इसका छोर खोलने वाले के हाथ में ही रहता हैं। वह उसे अगले ही पल अपने पास समेट लेता है। बच्चे इस प्रकार के खिलौनों से बड़े रोमांचित होते हैं व दूसरों को डरा कर मनोरंजन करते हैं।

फंदा—यह खिलौना शिकार के लिए बनाया जाता था। इससे प्राय: चिड़ियां, कबूतर, जल-मुर्गियां आदि पंछी पकड़े जाते थे।

इसे वनाने के लिए नरकुल और रस्सी की आवश्यकता होती है। रस्सी को एक नरकुल से दूसरे नरकुल पर इस प्रकार से लपेटा और बांधा जाता है कि वह चौकोर आकार की टोकरी-सी बन जाती है। इसे लकड़ी के एक छोटे से टुकड़े द्वारा खड़ा किया जाता है। इसके ऊपर कोई भारी पत्थर रखा जाता है और भीतर अनाज के दाने डाले जाते हैं। भोले पंछी दाना चुगने आते हैं और अपनी ही हिल-डुल से फंदे में कैद हो जाते हैं। अब पंछी तब ही निकल पाते है, जब उन्हें शिकारी खुद निकालता है।

झुनझुना—इस खिलौने को बनाने के लिए चंद कंकड़ और कुछ नरकुल की आवश्यकता होती है। नरकुल को मोड़ कर और इसके भीतर कुछ कंकड़ भर कर झुनझुनों का आकार दिया जाता है। छोटे बच्चे जब इन्हें हिलाते हैं तो ये व्रज उठते हैं।

घोड़ा—यह नरकुल से बनाया जाता है। नरकुल को विशेष आकार में मोड़ कर पूंछ वाला घोड़ा बनाया शाता है। पूंछ नरकुल के फुम्मनों से बनती हैं।

कपड़े के खिलौने :

पुराने कपड़े की कतरनों से भी खिलौने बनाये जाते थे। खरबूजा, भिंडी, बैंगन, करेला, संतरा, सेब, केला, गेंद, (टोकरा) तथा घड़े और सिर पर रखने के लिए बिन्ना आदि कतरनों से ही बनते थे।

खरबूजा—पुराने कपड़े को सी कर गोलाकार बना दिया जाता है। बाद में उसका पीले रंग के धागे से क्रोशिये द्वारा गिलाफ बुना जाता है और अन्त में हरे रंग के धागे से क्रोशिये द्वारा धारियां बनाई जाती हैं।

भिंडी, बैंगन, करेला—इन सब्जियों के रंग के कपड़े में रूई भर कर उक्त सब्जी का आकार दिया जाता है। बाद में उसे सूई से सी लिया जाता है। संतरा, सेब, केला आदि फल भी इसी प्रकार बनाए जाते हैं। जो ग्रामीण बैठकों की शोभा बढ़ाते हैं।

खोखड़ा या टोकरा—खोखड़ा भी खिलौने के रूप में प्रयुक्त होता है। इसे बनाने की विधि कुछ जटिल है। पर एक बार बनाते हुए देख लेने के पश्चात इसे बनाना सहज होता है।

इसके लिए माचिस की कुछ खाली डिब्बियां, पुराना कपड़ा सूई-धागा तथा अच्छा, साफ और खूबसूरत कपड़े का टुकड़ा अपेक्षित है।

लीरों का 'बिन्ना'—सिर पर घड़ा रखने के लिये बिन्ना रखा जाता है ताकि घड़े की कठोर सतह की चुभन अनुभव न हो।

इसे बनाने के लिए पुराने कपड़ों को सबसे पहले गोल रिंग का-सा आकार दिया जाता है। अब उस पर बराबर आकार में काटे गए कपड़ों को लपेटा जाता है। जब अच्छा-खासा मोटा रिंग बन जाए तो उस पर सुन्दर-सा रंगीन फूलों वाला कपड़ा लपेट कर सूई से सिया जाता है। बिन्ना तैयार। कहीं-कहीं ग्रामीण महिलाएं बिन्ने को कतरनों की झालरें और किनारी भी लगाती हैं।

गेंद—जम्मू के ग्रामीण इलाकों में पुराने कपड़ों की कलात्मक गेंद बनाने की भी परम्परा रही है। इन्हें डोगरी भाषा में 'खिन्नू' कहा जाता है। यह छोटे या बड़े-दोनों प्रकार के बनाए जाते हैं। छोटे 'खिन्नू' संतोलिया, गीह्टे, गोल-गत्ता या टोल्ले आदि खेलों में उपयुक्त होते हैं और यहीं बाल-जगत में अधिक उपयोगी भी माने जाते हैं।

धातु के खिलौने :

जम्मू प्रांत के बच्चों में धातुओं (विशेषकर लोहा और गिल्ट) से भी खिलौने बनाए जाते रहे हैं। यह धातुएं बच्चों को सहज ही उपलब्ध हो जाती हैं। इन्हें खरीदना नहीं पड़ता। खाली डिब्बे, टीन, ढक्कन, टायर, चक्के, बेयरिंग व तारें आदि चीज़ें बाल-मन के लिए बहु-मूल्य खिलौनों से कम नहीं हैं। इन चीजों से निम्नलिखित प्रकार के खिलौने बनाये जाते हैं :—

(क) एक पहिये वाली गाड़ियां

(ख) दुपहिया गाड़ियां

(ग) तीन पहिये वाली गाड़ियां

(घ) चार पहिये वाली गाड़ियां

एक पहिये वाली गाड़ियां—इस प्रकार के खिलौने प्रायः डिब्बे के ढक्कन, टायर, चक्का, या तार किसी एक चीज से बने होते हैं। पकड़ के लिए तार या लकड़ी होती हैं। टायर या चक्के के लिए तार या लकड़ी के टुकड़े की आवश्यकता रहती है—ताकि उसे आगे धकेला जा सके।

दुपहिया गाड़ियां—यह खिलौने केवल तार के टुकड़ों से ही बनते हैं। इसकी पकड़ के लिए तथा आगे धकेलने के लिए भी तार ही होती है। यह तार लोहे या गिल्ट धातु की बनी होती है।

चार पहिये वाली गाड़ियां—यह दोनों गाड़ियां 'बेयरिंग और लकड़ी के पट्टे द्वारा बनाई जाती हैं। इन की एक खूबी यह भी है कि इन पर बच्चे बैठ भी सकते हैं और इन गाड़ियों पर 'स्टेयरिंग' या हैंडल जैसा टंगा होता है जो गाड़ी पर बैठे बच्चे को सही दिशा में ले जाने में सहायक होता है। इन्हें चलाने या रोकने के लिए एक सहायक की आवश्यकता रहती है।

गाड़ियों के अतिरिक्त डिब्बों के ढक्कनों से तराजू भी बनाए जाते हैं।

माचिस की खाली डिब्बियों से टेलीफोन, कागज़ से जहाज, नाव, राकेट, सिगरेट की खाली डिब्बियों से कैमरे, टूटे हुए घड़ों से 'टापू' संतोलिया और राड़ बनाना खेलना जम्मू की लोक कलाओं के असंख्य ऐसे उदाहरण हैं जो अतीत की गोदी में जा बैठे हैं। आज विज्ञान और आधुनिकता की लौ ने संसार को चकाचौंध कर रखा है। जम्मू का देहाती खण्ड भी इस आधुनिकता से अछूता नहीं रहा है। लोग अपनी लोक कलाओं को भूल आधुनिकता के रंग में रंग गए है और लोक कलात्मक खेल खिलौने अब मात्र बीते हुए कल की बात रह गई हैं। अब न तो लोगों को लोक कला के प्रति कोई आकर्षण रहा है और न ही उनमें इनके साथ जुड़े रहने का कोई आग्रह।

अधिक से अधिक ये वस्तुएं मात्र हमारी लोक संस्कृति की धरोहर मात्र हैं जो संग्रहालय की शोभा भर बन सकती हैं। □

डोगरा पहाड़ी लोक-संगीत

□ बंधु शर्मा

मूल डोगरी से अनु० छत्रपाल

पुंछ से लेकर शिमला तक की पट्टी के अन्तर्गत आने वाले समूचे क्षेत्र के निवासियों के होठों से नि:सृत सुरों और बोलों ने मिल कर एक विशेष संगीत को जन्म दिया है जिसे हम डोगरा संगीत अथवा डोगरा-पहाड़ी लोक संगीत कहते हैं। इस संगीत के रूप, गुण और प्रकृति के बारे में विचार करने से पूर्व हम यह देख लें कि लोक-संगीत किसे कहते हैं। लोक संगीत का प्रचलित अर्थ है लोगों का संगीत, क्योंकि इसका सृजन लोगों के हृदयों से होता है। एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका में लोक (फोक) की परिभाषा कुछ इस प्रकार दी गई है। मनुष्यों की आदिम जाति के वे सभी मनुष्य जिन के मिलाप से वह समाज बना 'फोक' हैं। यदि इस शब्द को व्यापक अर्थों में व्याख्यायित किया जाए तो इसके अन्तर्गत किसी देश के समस्त निवासी समाविष्ट किए जा सकते हैं। किन्तु सामान्यत: पाश्चात्य सभ्यता के सन्दर्भ में यह शब्द संकुचित अर्थों में ऐसे लोगों के लिये प्रयोग में लाया जाता है जो नगर-संस्कृति के प्रवाह और औपचारिक शिक्षा से बाहर हैं। जो अशिक्षित अथवा अर्धशिक्षित हैं और देहातों के निवासी हैं।"

इसलिए उसी संगीत को हम लोक-संगीत की संज्ञा देते हैं जिस की रचना में चरवाहों-गद्दियों, किसानों, गुर्जरों, फौजियों और सैंकड़ों विरहणियों का हाथ है।

लोकगीत और लोक संगीत के बीच देह और आत्मा का संबंध है। एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती। लोक-गीत मात्र शब्दों और छन्दों का संगम नहीं और न ही लोक संगीत केवल सुर और ताल का मिलाप है। अपितु इन सभी का एक समग्र एकात्म रूप ही लोकगीत अथवा लोक संगीत है।

लोकसंगीत की उत्पत्ति में किसी का भी हाथ नहीं रहा। यह स्वयं प्रस्फुटित होता है। यह असंख्य लोगों और पीढ़ियों की यात्रा करके आया है। एक पीढ़ी ने इसे दूसरी पीढ़ी को सौंपा और अपनी काल यात्रा में इसके रूप और आकार में वृद्धि हुई। कई परिवर्तन आए। किन्तु फिर भी इसके मूल-स्वरूप में अन्तर महसूस नहीं होता। वही सीधे-साधे पहाड़ी सुर हैं, टिकी-ठहरी लय में वेदना और उदासी की फुहारें उंडेलती मर्मस्पर्शी धुनें हैं। विभिन्न सुरों में एक लय ताल स्थापित करके गाते गायक हैं जो वाद्य यन्त्रों के मोहताज नहीं। पारम्परिक वेशभूषा और चांदी के गहनों से लदे 'चन्न' गाते बांके चरवाहे हैं, चंचलो और कुंजु के सीधे-साधे सवाल-जवाब हैं, चिकारें और एक तारे की अनुगूंज में बार और कारक गाते दरेस (दरवेश) और 'गारड़ी' हैं, भाइयों को घोड़ी पर बिठाती, गाती-मुस्कुराती बहनें हैं, दही बिलोती स्त्रियों के बोल हैं, कुएं पर खड़ी दिलगीर प्रियतमाओं के विलाप हैं, गहरे नालों से आती बांसुरी की तान और ढोल की थापें हैं। सर्वत्र संगीत ही संगीत सीधा-साधा और मर्मस्पर्शी संगीत। एक फ्रांसीसी लोकगीत का सार कुछ इस प्रकार है, "न कोई ऐसा गांव है जिस का अपना कोई गीत नहीं हो न कोई ऐसी घाटी है जहां नीलोफर न खिलते हों।"

यह कथन हमारे डोगरा-पहाड़ी क्षेत्र पर खरा उतरता है। सन्देह होने लगता है कि कोई अन्य क्षेत्र भी लोक संगीत के सन्दर्भ में इतना समृद्ध होगा।

दरअसल डुग्गर की धरती ही हमारे लोक संगीत की जननी है इसी की छातियों का अमृतपान करके यह परवान चढ़ा है। इसी धरती के नदी नालों, शिखरों तथा हरियाले मैदानों ने हमारे लोक कवियों को प्रेरित किया और कण्डी की विकट जीवन-स्थितियों तथा प्रिय-वियोग ने हृदय की व्यथा व्यक्त करने को विवश किया। हमारे लोक गीतों में मिलन की अपेक्षा विरह के भाव अधिक छलकते हैं इसी लिये इन की स्वर-रचना उदासी और वेदना का समां बांध देती है।......

हमारे लोक-जीवन के हर पक्ष पर लोक संगीत की गहरी छाप है। कोई भी संस्कार या मन की दशा नहीं जो संगीत के सुरों में आवेष्टित न हो। संगीत का विस्तार इतना व्यापक है कि इस का वर्गीकरण करना सरल कार्य नहीं। फिर भी मुख्य रूप में इस का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है। यथा—

1. संस्कार संगीत, 2. धार्मिक संगीत, 3. देश एवं महापुरुषों का यशोगान, 4. भूत-मसान सम्बन्धी संगीत, 5. विभिन्न कार्यों सम्बन्धी

संगीत, 6. संवेदन शक्ति संगीत, 7. भाख, 8. नृत्य संगीत तथा 9. वाद्य संगीत ।

संस्कार संगीत

मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु तक डोगरा समाज में जितने भी संस्कार एवं रीति-रिवाज विद्यमान हैं उनसे सम्बन्धित विभिन्न प्रकार का समयानुकूल संगीत भी उपलब्ध है। बिहाइयां (सोहर), 'घोड़ियां', और 'सुहाग' इसके उत्तम उदाहरण हैं। अधिकतर यह संगीत सामूहिक रूप में गाया जाता है। इसे गाने वालीं घरेलू महिलाएं होती हैं। इसमें गायक ओर श्रोता अलग-अलग नहीं होते। सभी गाते भी हैं और सुनते भी हैं। किसी वाद्य-यंत्र या ढोलक की संगत नहीं होती। स्वर बड़े सीधे-साधे होते हैं। 'स्थायी' एवं 'अन्तरा' प्रायः एक जैसा होता है। यह संगीत पेशावर मिरासनें भी प्रस्तुत करती है। शहरों में ढोलक की संगत का प्रचलन है।

लड़कों के विवाह पर 'जागरना' (जागरण) किया जाता है जिसमें संगीत एवं नृत्य का विशेष आयोजन होता है। इसमें ताल का प्राधान्य होता है। यह ताल नाचने-गाने वाली महिलाएं स्वयं ढोलक, चुटकी, ताली और थाली बजा कर देती हैं।

धार्मिक संगीत

इस में भेंटें, विसनपते (विष्णुपद) और 'कारकें' आदि शामिल हैं। यह संगीत महापुरुषों का यशोगान और देवी देवताओं की पूजा-स्तुति के लिए निश्चित है। प्रायः इसे आम लोग और पेशेवर गायक—सभी गाते हैं। इसमें चिकारा, किंग, इकतारा, कांसे की थाली, झांझ, खड़ताल, चिमटा, ढोल या ढोलक और घड़ा आदि वाद्य यंत्र प्रयोग में लाए जाते हैं सारंगी, चिकारे, किंग या इकतारे का इस्तेमाल व्यवसायिक गायक ही करते हैं जिन्हें जोगी, गारड़ी या भराई कहा जाता है। गारड़ी हिन्दु धर्मावलम्बी होते हैं जब कि दरेस और भराई मुसलमान।

कारकें

इन्हें प्रायः जोगी और गारड़ी गाते हैं। कारकें बड़ी श्रद्धा एवं चाव से गाई और सुनी जाती हैं। श्रोता संगीत की मस्ती में डूब-से जाते हैं। कारकें अच्छी खासी लम्बी रचनाएं होती है और किंग, चिकारे या ढोल की सहायता से गाई जाती है। 'दरेस' चिकारे, जोगी किंग का और गारड़ी ढोल का प्रयोग करते हैं। इनकी गायकी की विशेष शैली होती हैं। प्रभाव उत्पन्न करने के लिए गायक शब्दों को बड़ी निपुणता से प्रस्तुत करते हैं। कुछ शब्दों पर अधिक जोर दिया जाता है और कुछ बड़े कोमल सुरों में गाये जाते हैं।

कुछ बोल कई-कई बार दोहराए जाते हैं जो श्रोताओं पर मीठी थपकियों का-सा प्रभाव डालते हैं और उनके दिलों में रच बस जाते हैं। कारकों की स्वर रचना एक दायरे में बंधी होती है और गायक गीत की स्थायी पर आकर उन बोलों को दोहराता है और आं ऽ ऽ ऽ आं ऽ ऽ ऽ जी ऽ ऽ ऽ की तान देकर समाप्त करता है। यहां पहुंच कर केवल 'किंग', और घड़े-थाली की आवाज़ ही घनघोर गूंज पैदा करती है तथा एक अद्भुत रस का संचार करती है। जब यह चक्र समाप्त होता है तो गायक अगले बोल उठाता है। ढोल पर बजते ताल का चलन शास्त्रीय ताल 'चंचल' से मिलता-जुलता है।

उदाहरण :

दुर्गा दाती सिमरिये, वर दाती माई,
भौन माता दा सोहना, लग्गी ऐ दरयाई।
जो चली आवै, सो फल पावे
सिमरदेआं, फल पाई।
सन्तें गी माता बच्चे देनी
भैनें गी बीर मलाई।

देश और महापुरुषों (वीरों) का यशोगान :

इस संगीत में 'बारां' और देश महिमा सम्बन्धी गीत शामिल हैं। संगीत और प्रभाव की दृष्टि में डुग्गर जनजीवन से 'बारां' अपना विशेष स्थान रखती हैं। इन्हें अधिकांश सामूहिक रूप में 'दरेस' ही गाते हैं। गायक, सारंगी (ज़िसे हमारे गांव देहात में 'दरिया' कहा जाता है) का प्रयोग करते हैं। चिकारा चार तारों वाली छोटी सारंगी की तरह होता है जिसे गज के साथ बजाया जाता है। गज में घुंघरू बंधे होते है।

बार भी लम्बी रचना होती है। इन में एकरसता को खत्म करने तथा प्रभावोत्पादन के लिये गायक कई तरीके इस्तेमाल करते हैं। कारक की भांति 'बार' के शब्दों को बड़े चातुर्य से प्रस्तुत किया जाता है। सुरों में नए रंग भरे जाते हैं। मर्मस्पर्शी बोल दोहराये जाते हैं। घुंघरुओं की रुनझुन और चिकारें की जादुई आवाज अजीब समां बांध देती है पुराने समय में दरेस, भाट और चारणों की भांति ही राजाओं और सेनानायकों के साथ युद्ध स्थल में जाते थे तथा सैनिकों का उत्साहवर्धन करने के लिये वीर गाथाएं गाते थे।

'बारें' सामान्यता राग पहाड़ी के सुरों में ही निबद्ध होती हैं। खंजरी पर चंचल ताल बजाया जाता है।

उदाहरण

सेवा लग्गी माता वाशला, मन चित्त राम ध्याई ।
गुप्ते, प्रगटे सब्बै पूजे, सतगुरु पूरी पाई ।।
बोलै गोरख वचन करै चेलें गी गल्ल सुनाई ।
चलो सिद्दो, दुधन्हेरै चलचै, ख्याल पेई इक माई ।।

भूत मसान सम्बन्धी गीत :

भूत मसान भगाने के और 'जादू-जड़ियों' का मारक प्रभाव हटाने के लिए जोगी-गारड़ी गाते हैं। इसे 'लहरां' भी कहते हैं। यह लोरियां भूत मसान को सुनाई जाती है और इनमें बहुत खुशामद और प्रशंसा भरी होती है। इस प्रकार भूत की, मानव की मुक्ति के लिए चिरौरी की जाती है। अधिक ढीठ प्रेतों को डराया-धमकाया भी जाता है। घड़े पर रखे कांसे के थाल को गिट्टियों से, गीत के साथ-साथ बजाया जाता है। थाल-घड़े के ही दौर चलते हैं। ढोल की संगत भी रहती है। वातावरण में भय और मौन छाया रहता है। इस प्रकार भूतों की 'चौकियां' दी जाती है।

कामकाज सम्बन्धी संगीत

काम करना और काम की थकन एवं कठिनाई को गीतों के सुरों में डुबो देना हमारे लोक-जीवन की विशेषता है। दही बिलोते, चक्की पीसते, अनाज सूप में फटकते समय कई गीत होठों पर आ जाते है। इन गीतों के साथ कोई वाद्य यन्त्र नहीं होता! चक्की पीसे जाने की आवाज और सूप की फटकन ही साथ देती है। यह संगीत बहुत व्यापक निश्चल और पवित्र होता है। इसी प्रकार किसान-मजदूर फसल लगाते और कटाई करते समय, छत डालते, दुष्कर चोटियों पर घास काटते, जंगलों से लकड़ी काटते और 'म्हान' चलाते वक्त गीत गाते हैं। इन सामूहिक गीतों को 'स्वाड़ी', 'गरलोडी' तथा 'लादी' आदि कहते हैं।

संवेदनशील संगीत

इसका प्रभाव और क्षेत्र अति व्यापक है। पुंछ से शिमला तक हर कुएं-घाट-बावड़ी, खेत और गली में इसके सुर गूंजते हैं। हर हृदय में इन रसीली और दर्दीली धुनों का बसेरा है। इस संगीत में युवा हृदयों की धड़कनें, आशा-निराशा, मिलन और बिछोह के रंग छलकते हैं। मैके की याद, कन्त वा वियोग, साजन की उपेक्षा और शत्रुओं की ईर्ष्या इन सैंकड़ों गीतों के विविध विषय हैं। संसार संगीत की तरह संवेदनशील संगीत की रचना में अधिकांश नारियों का योगदान है। क्योंकि यह संगीत मुख्य रूप में उन्हीं का आत्म निवेदन है। स्वर रचना में

पहाड़ी राग के सुरों का अधिक चलन है लेकिन इसके अतिरिक्त राग दुर्गा, भूपाली और झंझोटी आदि के सुरों का भी समावेश होता है।

यह धुनें दादरा, कहरवा, चंचल और रूपक तालों में निबद्ध होती हैं। कुछ धुनें ताल की पाबन्दी से परे हैं जैसे 'चन्न' और 'बेबुआ' आदि। 'चन्न' पर्वतीय क्षेत्रों में गाया जाता है जहां गुर्जर और चरवाहे रहते हैं। इसकी स्वर रचना बहुत मधुर और रसपूर्ण होती है। और 'भाख' से समानता रखती है।

दरअसल हमारा अधिकांश लोकसंगीत साज़ों और तालों से मुक्त है। जिन स्थितियों में संगीत उभरता है वहा वाद्य यंत्रों और ताल का सवाल ही नहीं उठता। हां, इतना अवश्य है कि जहां लोग गीत-नृत्य के विशेष आयोजन के लिए एकत्र होते हैं वहां यंत्र, बांसुरी, और दोतारे जैसे वाद्य और घड़ा ढोलक, नक्कारे और ढोल सरीखे ताल-यंत्र प्रयोग में लाए जाते हैं।

भाखें

सौन्दर्य और प्रभाव की दृष्टि से डोगरी लोकसंगीत में 'भाखां' का विशिष्ट स्थान है। ये एक साथ सामूहिक-स्वर में बिना साज़ के गाई जाती हैं। जम्मू प्रान्त के कई क्षेत्रों में, विशेषतया जम्मू, कठुआ और उधमपुर ज़िलों में इनका बहुत प्रचलन है। गायक-दल का नेता एक हाथ कान पर रखकर और दूसरा हाथ हवा में लहराते हुए गाता है। सुरों के उतार-चढाव उसका यह हाथ भी ऊपर नीचे होता है। मेलों में लोक गायकों की टोलियां सारी-सारी रात गाती रहती हैं। शास्त्रीय संगीत के गायक भी प्रायः यह मुद्राएं बनाते हैं। इस से गायक को विशेष मस्ती और आनन्द का अनुभव होता है। 'भाख' एक सुर से आरम्भ होती है और कुछ गायक अलग-अलग सुर उठाते हैं। बीच-बीच में एक आवाज 'सवाई' देती रहती है। जिसे पाश्चात्य संगीत में कॉर्ड (Chord) कहा जाता है। 'सवाई' देने वाला ओ-ऽ-ऽ-ऽ ओ-ऽ-ऽ-ऽ, ओ-ऽ-ऽ-ऽ का आलाप लेकर अति सुन्दर मुरकियां पैदा करता है। विभिन्न सुरों का अद्भुत सांमजस्य स्थापित रहता है जो बहुत सुहाना और रससिक्त वातावरण की सृष्टि करता है। यह स्वर रचना पाश्चात्य संगीत की 'हारमनी' (Harmony) से मिलती है।

सुरों की तरह इनकी शब्द रचना भी सुन्दर होती है तथा छन्द और मात्राओं की मात्राएं संगीत से आ-ऽ-ऽ-ऽ ओ-ऽ-ऽ-ऽ से घटाई बढ़ाई जाती हैं। 'भाखें' निम्न, मध्य और ऊंचे सुरों में गाई जाती हैं।

एक भाख के बोल हैं :

'मत्थै तेरे पर के किश लिखेआ, तित्तर ते मरगाइयां ओ।'

नृत्य संगीत

डुग्गर के लोक नृत्यों भांगड़ा, कुड्ड, फुम्मनी और 'जागरना' में जो संगीत गाया बजाया जाता है वह नृत्य संगीत की परिधि में आता है। इसमें ढोल, वांसुरी, नक्कारा, घुंघरु और डंडारस का मुख्य स्थान है। भांगड़े में ऊंची 'भाखें' भी गाई जाती हैं जिन्हें 'बोलियां' कहते हैं।

वाद्य संगीत

डुग्गर में कुछ वाद्यों को स्वतन्त्र रूप में बजाने का प्रचलन भी है। इस संगीत में भी एक अपनी ही एक मस्ती और मधुरता है। वह कौन-सा पर्वतीय शिखर है जहां बांसुरी की तान न सुनाई दे, कौन-सा ऐसा गांव है जहां ढोल की थाप नहीं गूंजती ! 'वंजली' अलगोजे, दोतारा और नफीरी बजाने का भी रिवाज है। इन वाद्यों का उल्लेख लोकगीतों में भी मिलता है।

हमारे जनजीवन में पिछले कुछ दशकों में कुछ गायक बहुत लोकप्रिय रहे हैं। इनमें स्वर्गीय मस्तराम, चतुरनाथ जोगी, गुलाम मुहम्मद, शंकरी देवी, लज्जा-लच्छमी और स्व० भागां आदि प्रमुख हैं। भागां जम्मू की प्रसिद्ध गायिका थी। महाराजा प्रताप सिंह के शासनकाल में गुन्नी गांव की दो बहनों सुबु और भज्जां का बहुत नाम था। वे 'भाखें' बहुत अच्छी गाती थीं। महाराजा उन्हें सुनने के लिए खास तौर से बुला भेजते थे।

डुग्गर के बाहर पहाड़ी धुनें और गीत पहुंचाने में शास्त्रीय संगीत के कुछ विद्वानों का, जिनकी कला जम्मू में ही परवान चढ़ी, विशेष योगदान रहा है। इनमें स्व० बड़े गुलाम अली खां, मलिका पुखराज बरकत अली, पं० उमादत्त शर्मा, शिव कुमार शर्मा, जिया लाल बसन्त, मनमोहन पहाड़ी, कृष्ण गोयल और मास्टर झंडे खां के नाम उल्लेखनीय हैं। आकाशवाणी के जम्मू केन्द्र के कलाकारों ने भी संगीत सेवा में योगदान दिया है। इनमें सर्व श्री गिरधारी लाल पंत, नरेन्द्र गुप्ता, प्रकाश शर्मा, अमरनाथ, गंगाधर, लक्ष्मीकांत जोशी, प्रद्युमन सिंह, राधाकृष्ण, गुलाब राय साथी, अमिता डे, शकुन्तला देवी, सुधा कुमारी, सुदर्शन सूदन, प्रीतम सिंह और जगदीश राज प्रमुख हैं।

अपने समय में डोगरी धुनों के प्रचार प्रसार के लिए बैरो साहब के बैंड ने भी खासा योगदान दिया है। 'प्हाड़ें देसें कट्टेआ नेईं जन्दा' और 'पल भर वेईं जाना' इत्यादि गीतों की मौलिक धुनें इस पुलिस बैंड के पास या अन्य कहीं किसी रिकार्ड में अवश्य सुरक्षित होंगी।

लोकसंगीत हमारी अमूल्य निधि है। अमर धरोहर है। इसका संरक्षण हमारा सामूहिक दायित्व है। इन गीतों के समूचे सुरों की सुरक्षा भी इतनी ही आवश्यक है जितनी इनके शब्दों की हिफाजत भली प्रकार हो सकती

है स्थानीय कला, साहित्य एवं भाषा अकादमी द्वारा प्रकाशित लोकगीतों के कई संग्रह तथा अन्य पुस्तकें इस बात का प्रमाण हैं। किन्तु स्वर लिपि लिखवा कर उनके संरक्षण का कार्य अभी शेष है। डाक्टर कर्णसिह की कृति 'शैडो एंड सनलाईट' इस दिशा में सराहनीय प्रयास है किन्तु इसे एक लम्वी यात्रा का पहला कदम ही माना जा सकता है। यह खेदजनक बात है कि सन् 1962 के वाद इस यात्रा का कोई सहयात्री सामने नहीं आया।

सर्व श्री नीलाम्बर देव शर्मा और 'मधुकर' के शब्दों में "इससे पहले कि फिल्मी संगीत हमारे पहाड़ी संगीत को नष्ट करके उसे सस्ता मिश्रित रूप दे दें और लोकगीतों के बोल चुरा कर कुछ कविगण अपनी कविता का यश कमाने लग जाएं, इन गीतों को लोगों तक पहुंचाना हम सभी का दायित्व है।" □

डुग्गर के लोक कलात्मक व्यंजन

□ धर्म चन्द्र प्रशान्त

भारत में विविध क्षेत्र एवं राज्य होने से जहां उनकी अलग-अलग भाषा और भिन्न-भिन्न वेशभूषा है वहां इसके अतिरिक्त उनके भोजनों में भी भिन्नता है। 'अपने घर के भोजन का स्वाद अनुपम है'। यह एक निर्विवाद सत्य है।

डुग्गर की अन्य लोक कलाओं में भोजन पाक कला का महत्व भी कहीं कम नहीं है। जब हमें पकवानों और व्यंजनों की स्मृति आती है तो कहना पड़ता है कि वे आज हैं ही नहीं। न बनाने वाले रहे और न खाने वाले। आज डुग्गर के भोजन का रूप बड़ा मिल जुल-सा गया है। पहले खाना बनाने वाले को बावर्ची नहीं 'स्यान' कहा जाता था। रसोई बनाने में वे लोग निपुण होते थे। आज जम्मू प्रान्त में स्यान (महाराज) रहे नहीं और उनकी जगह हलवाइयों ने ले ली है। पहले डोगरा रसोई चूल्हे पर नहीं, बल्कि दो गज लम्बे भूमि पर 'खुदे ड्हान' पर पकती थी। चावल सगलों में और दालें, मद्दरे, देगचों व पतीलों में बनाये जाते थे। लोहे के बड़े कढ़ाह में अम्बल तैयार किया जाता था। अम्बल, मीठा भी होता था और खट्टा भी। पूरी रसोई तो बरातों के अवसर पर ही तैयार होती थी। आज तो बारात खिला पिला कर रात को ही विदा कर दी जाती हैं परन्तु पुराने समय में तीन या चार दिन लड़की वालों के घर रहने का रिवाज था। पहले दिन के भोजन को पहला जुन्न दूसरे दिन 'चाब' और तीसरे दिन के बारात के खाने को 'सम्हाला' कहते थे। स्यान उन्हीं दिनों में अपने हाथों का चमत्कार दिखलाते थे। पहले दिन बरात को खाने में चावल और मद्दरे दिए जाते थे। दालें छोटे दर्जे के लोगों तक ही सीमित थीं और बड़े घरों में केवल मद्दरे ही बारात को खिलाये जाते थे।

भात पलाश की पत्तलों पर परोसा जाता था। दालें और मद्दरे पलाश

के दोनों में। दूल्हे और उसके पिता के लिए बड़ी पत्तलें जिन्हें 'बड़ोत्तलें' कहा जाता था, रखी जाती थीं। 'बड़ोत्तल' चार पत्तलों को जोड़ कर (बड़ी पत्तल) तैयार की जाती थी। इस पर सींक के टुकड़ों से फूल पत्ते उकेरे जाते थे। इसे बनाने वालों को दसाली कहा जाता था।

पहले, सफेद भात परोसा जाता था और पत्तलों के किनारों पर दूसरे भात रखे जाते थे। इनमें पीले भात, पीला या नमकीन भात मटर, गुच्छी, पनीर से बनता था और मीठे चावलों की भी कुछ किसमें थीं। श्री पुलाव आज खोये से बनता है। वास्तव में यह दूध को चावलों में भून कर बनाया जाता है। यह आज भी कहीं-कहीं खाने को मिल जाता है। दूसरा मीठा पुलाव साधारण चीनी डाल कर बरात को खिलाया जाता था। दो तरह के और चावल परखे जाते थे। आलू बुखारे का और दूसरा जिरस का। जिरस गिलगित से आती थी। बड़ी बारीक काले रंग की थी मगर खठ-मीठी। इसका पुलाव खट मीठा होता था। भाजियों में मद्दरे ही थे। उड़द का मद्दरा, लोभिया, आलू और सफेद चनों के भी मद्दरे होते थे परन्तु इन सबसे ऊपर था मीठा मद्दरा। इसमें सूखे मेवे पड़ते थे और नमक के स्थानपर मीठा डाला जाता था। आज वनस्पति घी का युग है परन्तु पुराने समय में इसका किसी ने नाम भी नहीं सुना था। शुद्ध देसी घी में प्रत्येक मद्दरा बनता था। आज मद्दरों में राजमाश का नाम ऊपर है परन्तु पुरानी रसोई में इसका बिल्कुल नाम नहीं था। ये वर्तमान युग का प्रचलन है।

बारात के लिए दूसरे दिन का भोजन 'चाव' कहलाता था। इसमें राजमाश के मद्दरे के विविध पकवान होते थे। बारात को सात पकवानी खिलाई जाती थी। सत्त पकवानी का अर्थ सात प्रकार के पकवानों से था। इनमें मैदे के घीवर, खमीरे, होते थे। सत्त पकवानी महिलायें बनाती थीं और बड़ी कारीगरी से तैयार करती थीं। घीवर का घेरा एक फुट से तीन फुट तक और उसका वजन आज के दो किलोग्राम तक का होता था। जब बारात लड़की वालों के घर पहुंचती तो दूल्हा को घी और दही खाने को दिया जाता था। इसे "भोज" कहते हैं। घीवर के ऊपर आटे के खमीरे, मैंदे की पूड़ियां और सुच्चियां रखी जाती थीं। थोथरू एक विशेष पकवान था जो पहले भी और अब भी है। यह मैदे में दही डाल कर बनाया जाता है। इसके अतिरिक्त उड़द की पीठी के बड़े भी दिये जाते थे। चाव के दिन मद्दरों की बजाय सब्जियां और मुख्यत: दही रहता था। तीसरे दिन का भोज 'सम्हाला' होता था।

आज ये वस्तुएं उपलब्ध नहीं हैं और न उनके वनाने वाले स्थान ही। वारात हो या और कोई वड़ा शुभ संस्कार, खाना विठा कर ही खिलाया जाता था। बैठ कर खाने-खिलाने में एक अपना आनन्द था। आज वुफे डिनर और लंच का युग है।

व्यंजनों में मिट्ठी रोटी वड़ी महत्वपूर्ण है। उसको वनाने के लिये वड़े ऊंचे किनारे वाली बड़ी थाली में मैदा और सूजी मिला कर शुद्ध घी में गूंधा जाता है। पानी बिल्कुल इसमें नहीं डाला जाता। उसमें सूखे मेवे कूट कर मिलाये जाते हैं और थाली को तंदूर में रख कर पकाया जाता है। यह सबसे उत्तम और लोक कलात्मक मिष्ठान्न है।

डुग्गर की मिठाइयां जिनका नाम भी आज मिट गया है वे थीं वियावें और पलाकड़ियां। वियावें घी में भुने चावल के आटे से किसी गोल वड़े कटोरे में वनती थीं। इनके ऊपर मेवे जैसे बादाम, गरी, पिस्ता, किशमिश, इलायचीदाना सुन्दर ढंग से चिपकाया जाता था और फिर धीमी आंच दी जाती थी बस वियाव तैयार हो जाती थी, यह बड़ी स्वादिष्ट होती थी। इसी प्रकार पलाकड़ी भी ताजा खोये के समोसे की तरह तैयार की जाती थी और अन्दर मेवे डाल कर कंगूरेदार गूंथा जाता फिर तला जाता था। पलाकड़ी तैयार हो गई। इसके अतिरिक्त ठीकरी की मिठाई भी यहां बड़ी प्रसिद्ध थी। मिट्टी के घड़े या सुराही के निचले हिस्से पर रख कर यह कोयले की धीमी आंच पर बनाई जाती थी। प्रत्येक मेवे को डाल कर गरम हो जाने पर चाशनी चमचे में भर कर डालते और हिलाते रहने से मेवों की मिठाई तैयार हो जाती थी। मेवों में चार मगज़ बादाम पिस्ता और यहां तक कि अनारदाने की भी मिठाई भी वनती थी।

उपरोक्त मिठाईयां धनवान लोगों के घरों में बनती थीं परन्तु जिनकी आर्थिक दशा अच्छी नहीं थी उनके घर विवाहों इत्यादि उत्सवों पर कुछ और वनने वाली मिठाइयां थीं। वे थीं बेसन के लड्डू और शकरपारे। वेसन की सेवईयां तल कर उन्हें खाण्ड की चासनी में मिलाया जाता था और बाद में सुखा कर खाने व बांटने के लिए रखा जाता था। इन्हीं के लड्डू भी बनते थे। इसके अतिरिक्त शकरपारे मैदे को गूंध कर उसे छोटे-छोटे टुकड़ों में काट कर सूखी चीनी या चाशनी में डुबो कर छाना जाता था। इन के अतिरिक्त सकारें भी विवाहों पर तैयार की जाती थीं। ये मैदे की गोल सुच्ची की भांति बेल कर घी में तली जाती थीं और काफी कुरकुरी की जातीं थीं। ये भी बांटने के काम

आती थीं। दूध और चावलों की खीर के अतिरिक्त पर्व त्योहारों पर बनने वाली खीरों में कुट्टु का आटा, बजर भंग, आलू, कुम्हड़ा रामदाना, आदि प्रयोग में लाया जाता था जिसमें केवड़े गुलाब जल, डाले जाने के अतिरिक्त चांदी के वर्कों और पिस्ते बादाम से फुलकारी की जाती थी।

मिठाईयां विवाह के समय ही नहीं वृद्ध व्यक्तियों की मृत्यु के दसवें दिन पर भी सम्बन्धियों को दी जाती थीं। लड्डू नहीं! गोल रोटी चीनी के बने गंदौड़े, की भांति बने। इसके अतिरिक्त पिन्नियां भीं दी जाती थीं। पिन्नियां अधिकतर सूजी में चीनी डाल कर बड़े लड्डुओं की भांति तैयांर की जाती थीं। वयोवृद्धों की मृत्यु पर इस प्रकार की मिठाई बंटने का चलन डुग्गर में ही था। आज ये लोक कलात्मक व्यंजन डुग्गर की सांस्कृतिक स्वाद-स्मृति भर होकर रह गये हैं। ▢

लोक नाट्य परम्परा और डुग्गर

□ प्रो० रामनाथ शास्त्री
अनु० : निर्मल विक्रम

लोक परम्परा, सामाजिक जीवन का एक अति महत्त्वपूर्ण यथार्थ है। इस के ज्ञान बिना किसी भी जाति-वर्ग के सामाजिक जीवन का अध्ययन अथवा इतिहास न केवल एकांगी तथा अपूर्ण होगा अपितु वह यथार्थ से दूर और अवैज्ञानिक भी होगा। जिस प्रकार बिना नींव के किसी भवन की कल्पना या बिना जड़ों की वनस्पतियों की कल्पना यथार्थवादी कल्पना नहीं कहला सकती उसी प्रकार लोक-परम्परा को नकार कर जीवन के विभिन्न पक्षों की विकास-चर्चा भी प्रामाणिक नहीं कही जा सकती।

श्री नेमिचन्द्र जैन ने 'रंग-दर्शन' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में इस बात का स्पष्ट विवेचन कुछ इस प्रकार किया है :—

'भारत जैसे कृषि-सभ्यता प्रधान देश में यह अनिवार्य है कि हमारी सर्जनात्मक गतिविधि के बहुत से अंगों के सूत्र लोक जीवन से जुड़े हों। विशेष रूप से हमारी सांस्कृतिक परम्परा का एक बड़ा अंश लोक-संस्कृति से सम्बद्ध है। इसके प्रमाण हम अपने अनेक रीति-रिवाजों आचार-व्यवहार, पर्वो-त्योहारों तथा समारोहों आदि में तो पाते ही है, संगीत, नृत्य, चित्रकला, साहित्य आदि सर्जनात्मक अभिव्यक्ति, दिशाओं में भी उसके (मौलिक) योग को स्वीकार करने को बाध्य होते हैं। आज हमारे देश की लगभग समग्र कलात्मक अभिव्यक्ति में लोक-परम्परा के महत्त्व की स्वीकृति और क्रमशः बढ़ती हुई छाप स्पष्ट है। (पृष्ठ 80)

'परम्परा का प्रश्न किसी भी कला-सर्जना के लिए मौलिक महत्त्व का प्रश्न है। आज देश में प्राचीन महत्त्वपूर्ण कला रूपों में पुनरुद्धार और

पुनरुज्जीवन के कारण भी लोक-नाट्य परम्परा के अध्ययन को महत्त्व मिलने लगा है। लोक-नाट्य हमारी नाट्य परम्परा की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है।'

रंग-दर्शन' नामक इस ग्रन्थ के इस उद्धरण से लोक-परम्परा के अंग-रूप में लोक-नाट्य परम्परा का प्रसंग हमें अपने विषय की चर्चा पर ले आया है। क्योंकि हम भी इस समय डुग्गर की लोक-नाट्य परम्परा के विषय में सोच-विचार करने के लिए प्रयासशील हैं। इस सन्दर्भ में यह बुनियादी उत्सुकता होना स्वाभाविक है कि क्या डुग्गर की अपनी कोई नाट्य परम्परा थी? इस परम्परा का कोई चिन्ह शेष है? दोनों प्रश्न बुनियादी महत्त्व रखते हैं। किन्तु मूल रूप में यही बात अधिक महत्त्वपूर्ण है कि इस धरती पर कभी अपनी कोई मौलिक नाट्य-परम्परा विद्यमान थी? इस प्रश्न का उत्तर देना तब तक सरल नहीं जब तक हमें डोगरा-सामाजिक जीवन की सर्जनात्मक अभिव्यक्ति में कहीं लोक नाटकों की सत्ता का प्रमाण प्राप्त नहीं हो जाता।

इस संदर्भ में कोई निश्चित ब्योरा इसलिए प्रस्तुत नहीं किया जा सकता क्योंकि रियासत जम्मू-कश्मीर के अन्तर्गत आने वाले डोगरा-प्रदेश की लोक-परम्पराओं संबंधी सामग्री एकत्रित करने के लिए आज तक योजनाबद्ध तरीके से कार्य करने का सम्भवत: कोई ठोस प्रयास नहीं किया जा सका है। डुग्गर के विभिन्न क्षेत्रों में गत तीन-चार दशकों से डोगरी भाषा के माध्यम से एक नई लोक-चेतना जाग्रत हुई है तथा साहित्यिक और सांस्कृतिक संस्थाओं के रूप में संगठित हुई है। लोक-चेतना के इन केन्द्रों का मुख्य क्षेत्र यद्यपि डोगरी के लोक साहित्य की खोज और उसका संकलन आदि और डोगरी भाषा के माध्यम से अपने भाव-विचार कविता-कहानी-लेख आदि द्वारा अभिव्यक्त करना है, किन्तु इसके साथ-साथ ही इन संस्थाओं के साधकों को अपनी लोक परम्परा के अन्य रूपों की तलाश करने की आवश्यकता और उसके महत्त्व के बारे में भी ज़ानकारी थी। लेकिन आज तक इन आंचलिक सभा-संस्थाओं ने भी अपने क्षेत्र से डुग्गर की किसी मौलिक लोक-नाट्य परम्परा की सत्ता के बारे में कोई जानकारी प्रस्तुत नहीं की। इसका एक कारण तो यह है कि उन क्षेत्रों में किसी लोक-नाट्य परम्परा का कोई चिह्न आज उपलब्ध नहीं है। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि डुग्गर की इन संस्थाओं में गहरे पैठ कर ज्ञान-अर्जन करने वाले 'गोताखोरों' की कमी रही हो। वैज्ञानिक सूझ-बूझ और सच्ची लगन के बिना इस तरह का अनुसंधान कार्य आरम्भ ही नहीं किया जा सकता, उसे परिणति तक पहुंचाना तो दूर की बात हैं। दरअसल आंचलिक केन्द्रों में में भी कवि, कहानीकार और लेखक बनने की आकांक्षा ही प्रधान रही है, अनुसंधान संबंधी प्रतिभा दबी-ढकी ही रही है। जिन क्षेत्रों में कार्य सम्भव या आवश्यक था वे प्राय: अछूते ही रहे। इसका एक प्रमुख कारण यह भी है

कि ऐसे क्षेत्रों में अकेले काम करने की सम्भावना अति गौण होती है, इसमें अधिक लोगों के सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। साहित्य-सृजन के क्षेत्र में वैयक्तिक वृत्ति की सुविधा रहती है इसी प्रवृत्ति से यह अनिष्ट हुआ, अन्यथा यह कैसे सम्भव है कि हमारे इस विशाल देश के सभी प्रदेशों की जन भाषाओं में विविध लोक-नाट्य परम्पराएं उभरीं, विकसित हुईं, परवान चढ़ीं और मात्र डोगरा प्रदेश ही इस फसल के लिये ऊसर प्रमाणित हुआ।

"संस्कृत नाटकों के ह्रास के बाद हमारे देश में नाट्यमूलक गतिविधि ने विभिन्न भाषा-क्षेत्रों में अलग-अलग रस लिया जिस को समग्र रूप में हम मध्यकालीन नाट्य परम्परा कह सकते हैं। हजार बारह सौ वर्ष की इस लम्बी अवधि में देश के विभिन्न भागों में नाटक और रंग-मंच का ठीक-ठीक रूप रहा, इसका पूरा विस्तृत विवरण तो नहीं मिलता (लेकिन) कुछेक भाषा-क्षेत्रों को कतिपय नाट्य-रूपों की दो-तीन सौ वर्षों की थोड़ी बहुत जानकारी मिलती है। इस विशाल देश के विभिन्न क्षेत्रों की स्थिति एक जैसी नहीं रही, न विकास की गति में, न उपलब्धि की श्रेष्ठता में। इस प्रकार देश भर में हम 'यात्रा' (बंगाल) 'नौटंकी', 'स्वांग' (उ० प्र०), 'ख्याल'; 'माच', भवई', (गुजरात) 'तमाशा' (महाराष्ट्र) दशावतार', 'यक्षगान' (कर्नाटक), 'अंकिया नाटक', 'रासलीला' (उ० प्र० राजस्थान) तथा रामलीला जैसे विभिन्न स्तर के लोक-नाट्य पाते हैं।" (रंग-दर्शन -- पृष्ठ ४5)

विविध लोक नाटकों की इसी स्थिति को डा० दशरथ ओझा अपनी प्रसिद्ध रचना 'हिन्दी नाटक-उद्भव और विकास' में इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—

'किसी भी देश की सामान्य जनता अपने बातावरण तथा रुचि के अनुकूल विनोद का साधन स्वभावतः निकाल लेती है। इन साधनों के नाटक का स्थान सर्वोपरि माना जाता है। इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि साहित्यिक नाटक जनता के दैनिक जीवन में मनोविनोद के सर्वोच्च साधन किसी युग में भी न बन पाए होंगे। अतएव सामान्यतः अपठित तथा अर्द्ध पठित जन-समुदाय अपने जीवन के अनुरूप हास्य विनोदमय नाट्य-विधायों का सृजन करता रहा है।

(इसी लिये) हमारी देशी भाषाओं में साहित्यिक नाटकों के पूर्व जननाटक शताब्दियों से अभिनीत होते आ रहे हैं बंगला में यात्रा तथा कीर्तनिया नाटक, बिहार में विदेशिया, पूर्वी हिन्दी (अवधी, बृज तथा खड़ी बोली में रास, नौटंकी, स्वांग, भांड, राजस्थानी में रास, झूमर और ढोला मारू, गुजराती में भवाई, मराठी में लड़िते और तमाशा इत्यादि।" (पृष्ट 49)

इन लोक नाटकों की असाधारण लोकप्रियता के विषय में हिन्दी के अलवेले ज्ञानमार्गी कवि कबीरदास की यह व्यंग्योक्ति बड़ी प्रसिद्ध है।

"कथा होय तहां स्रोता सोवें, वक्त मूंड पचाया रे,

होव जहां कही स्वांग तमाशा तनिक न नींद सताया रे।"

इस उक्ति से पता चलता है कि कबीर के काल में अर्थात् चौदहवीं शताब्दी में भी उत्तर प्रदेश में 'स्वांग' और 'तमाशा' नामक लोक-नाटक लोगों में वेहद ख्याति अर्जित कर चुके थे।

एक अन्य जिज्ञासा यह भी उत्पन्न होती है कि डोगरा प्रदेश के निकटवर्ती कश्मीरी एवं पंजाबी भाषी क्षेत्रों में लोक-नाटक की स्थिति क्या थी? श्री वलवन्त गार्गी पंजाब के प्रसिद्ध नाटक-लेखक एवं निर्देशक हैं। उन्होंने 'रंग-मंच' नामक एक उपयोगी ग्रंथ की पंजावी भाषा में रचना की है। इसमें उन्होंने भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों की लोक-नाट्य-परम्पराओं का विस्तृत परिचय दिया है। इसमें पंजाब के लोकनाटकों के हवाले से उन्होंने किसी विशेष परम्परा की चर्चा नहीं की हैं, केवल इतना लिखा है :—

'नौटंकी खेलने वाले, जिन्हें पंजाब में 'रासधारिए' कहा जाता है, उत्तर प्रदेश के कई बड़े नगरों में नाटक खेलते हैं। एक-एक मंडली में कई बार तीस-तीस कलाकार होते हैं।

"स्वांग अर्थात् भांडों का तमाशा एक प्रकार का प्रहसन है। प्रायः दो भांड यह तमाशा दिखाते हैं। दोनों में से एक 'भाइया' बनता है जिसके एक हाथ में पतले चमड़े का 'तमाचा' होता है। 'भाइया' दूसरे आदमी से (जो नारी वेश में होता है) प्रश्न पूछता है और दूसरा व्यक्ति उस प्रश्न को हंसी मजाक वाली किसी वात पर ले आता है (जिसे सुनकर) 'भाइया' उसे तड़ातड़ चमड़े के 'तमाचे' से पीटता है..." (पृष्ठ 101)

इस कथन से इसी वात की पुष्टि होती है कि पंजाब में भी कोई अपनी मौलिक नाट्य-परम्परा स्थापित नहीं हो सकी। 'भांडों के तमाशे' को नाट्य परम्परा का नाम नहीं दिया जा सकता। उत्तरप्रदेश और राजस्थान की नौटंकी को ही वहां 'रासधारियों की मण्डली' कहा जाता रहा है। नौटंकी या रास का कोई रूप पंजाब की अपनी मौलिक उपज के रूप में हमारे समक्ष नहीं आता। हां, इस के विपरीत कश्मीर घाटी में 'भांड जशन' नामक एक लोकप्रिय लोक नाट्य-परम्परा आज भी विद्यमान है। कश्मीरी भाषा की यह अपनी निजी और मौलिक नाट्य परम्परा है जिसके कलाकार अपने को 'भगत' कहते हैं।

वे सब 'रासधारिए' बाहर के (अधिकांश उत्तर प्रदेश के) होते थे। श्री जितेन्द्र शर्मा के 1972 की 'नमीं चेतना' में प्रकाशित लेख 'जम्मू च रंगमंच दी परम्परा' में हीरानगर के पंडित जगतराम का ज़िक्र अवश्य आया है, जिन्होंने मथुरा-वृन्दावन जाकर वहां के रासधारियों के साथ रह कर "रास लीला का काम सीखा था।" लेख में इस बात की चर्चा कुछ इस प्रकार मिलती है।

"जगतराम सत्रह वर्ष की आयु में अपने गांव राजपुरा (हीरानगर) से निकले और मथुरा वृन्दावन जा पहुंचे। वहां उन्होंने रासलीला का काम सीखा। उस जमाने में पढ़ने लिखने का रिवाज कम ही था इसलिए रासधारियों के संचालक, जो भगत कहलाते थे, 'लीलाएं' कण्ठस्थ करते थे। भगतराम ने भी कुछ 'लीलाएं' जवानी याद कर लीं, उन्हें रंगमंच पर प्रस्तुत करने का ढंग सीखा और जम्मू लौट आए। यहां आकर उन्होंने रासधारियों की एक टोली तैयार की और गांव-गांव घूम कर 'शो' देने आरम्भ किए। 'शो' देते-देते यह रास टोली पंजाब से होते हुए सिंध प्रान्त में शिकारपुर तक जा पहुंची।...

पंजाब की स्थिति की चर्चा से इतना स्पष्ट हो जाता है कि इस क्षेत्र में डोगरा प्रदेश को प्रेरित करने या प्रभावित करने योग्य अपनी कोई मौलिक नाट्य परम्परा नहीं थी।

उत्तर प्रदेश की कुछ प्रोफेशनल रास-मंडलियां जीवकोपार्जन के लिए जिस प्रकार पंजाब के देहातों में जाकर अपने कार्यक्रम प्रस्तुत करती थीं, उसी वे हमारे इस डोगरा प्रदेश में भी फेरा डाल जाती थीं। ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं कि हिन्दी प्रदेश की इन रास-मंडलियों से प्रेरित होकर यहां के स्थानीय गवैयों-कलाकारों ने कभी अपनी जन-भाषा डोगरी के माध्यम से कार्यक्रम प्रस्तुत करने वाली कोई रास-मंडली स्थापित की हो। कुछ लेखकों ने जम्मू में होने वाली रास (या रास-लीलाओं) की लोकप्रियता की तथा उनके कार्यक्रमों की चर्चा अपने लेखों में की है लेकिन इन चर्चाओं में जिनका ब्योरा मिलता है जसरोटा के पास अपने गांव ढोका बुला भेजा। वहां लम्बी अवधि तक रास-लीला होती रही। पूरे चार मास के बाद भगत (जगतराम) अपना दल-बल लेकर राजपुरा लौट आए। इसके बाद वज़ीर पुन्नू की अनुशंसा पर भगत जगतराम को महाराजा रणबीर सिंह जी ने 30 आषाढ़ 1940 विक्रमी सम्वत् (जून-जुलाई सन् 188३ को ज़म्मू के मंदिरों में गायन करने और रासलीला के कार्यक्रम प्रस्तुत करने के लिए धर्मार्थ विभाग में नौकरी दे दी।

"इस प्रकार भगत जगतराम की रासलीला मंडली का स्वतन्त्र-अस्तित्व और उसके साथ ही उस की लोक-परम्परा भी समाप्त हो गई।"

इस ब्योरे से किसी को यह गलतफहमी नहीं होनी चाहिए कि भगत जगतराम की इस रासमंडली ने डोगरी भाषा को मान्यता दी होगी और डोगरी भाषा में ही रास-लीलाएं प्रस्तुत की होंगी। भगत जगतराम भी निरक्षर थे। उनकी पूंजी वही रास-लीलाएं थीं जिन्हें उन्हें मथुरा वृन्दाबन के अपने प्रवास दौरान कण्ठस्थ किया था। वे उसी परिपाटी से बंधे रहे। उनमें नृत्य-गायन की कला और उसके संचालन की योग्यता अवश्य थी किन्तु डोगरी में मौलिक लीलाएं रचने का उन्हें सम्भवत: विचार भी नहीं आया होगा। वे रास-लीलाओं की मथुरा-वृन्दावन-परम्परा के ही अंग बने रहे। उसी परम्परा के कारण वे पंजाब और सिंध प्रान्त में कार्यक्रम प्रस्तुत कर आए लेकिन रास-लीला को अपनी मिट्टी की खुशबू में ढाल लेने वाला अन्य कोई 'भगत' (कलाकार) भी डुग्गर में पैदा नहीं हुआ। परिणामस्वरूप उन रास लीलाओं को डुग्गर की लोक-नाट्य परम्परा का अंग नहीं माना जा सकता।

'भगत' उपाधि का सम्बन्ध जिस प्रकार रासलीलाओं से है उसी प्रकार 'भगतां' नामक एक लोक-नाट्य परम्परा से भी है जिसे डोगरा प्रदेश की अपनी मौलिक लोक-नाट्य परम्परा कहा गया है। यह अत्यन्त दु:खद है कि रियास्त जम्मू कश्मीर के डोगरा क्षेत्र के किसी भी अंचल में आज यह लोक-नाट्य परम्परा जीवित नहीं है। तहसील बसोहली में भी नहीं जहां कई मित्रों अनुसार कभी 'भगतां' खेलने की आम प्रथा थी। यह रिवाज वहां कब आरम्भ हुआ और कब तक विद्यमान रहा तथा फिर यह एकाएक विलुप्त क्यों हो गया? इन जिज्ञासाओं का कोई पर्याप्त समाधान नहीं मिलता।

डोगरी के लोकप्रिय कवि-गीतकार श्री यश शर्मा मूल रूप से बसोहली के निवासी हैं। वह बड़े विश्वास के साथ वहां 'भगतां' नाम के लोक नाटकों की सत्ता की तसदीक करते हैं। डोगरी के बुजुर्ग कवि श्री रामलाल शर्मा जी ने बताया था कि उन्हें सन् 1947-48 में रावी पार 'गंगथा' नाम के गांव में देखा था जिन दिनों बाल-बच्चों सहित पाकिस्तानी गुरिल्लों के हमलों के कारण गुढ़ा गांव छोड़ कर रावी पार गंगथा चले गए थे।

भगतां नाटकों की प्रस्तुति के बारे में श्री जितेन्द्र शर्मा अपने उस लेख में लिखते हैं :—

"भगतों का मुखिया भगतां प्रस्तुत करने का किसी चौगान वगैरा में आयोजन करता, लोगों को समय एवं स्थान की सूचना देता और तमाशे में स्वयं भी भाग लेता है। तमाशे में सीन-सीनरियों का प्रयोग नहीं होता पर आवश्यकतानुसार पोशाकें पहन कर स्वांग करने की परम्परा प्रचलित है। भगतियों के मंच के तीनों तरफ लोग गोलाकार बैठ जाते हैं और मशालों की रोशनी में 'भगतां' का प्रदर्शन आरम्भ हो जाता है।

यह लोग अपने इलाके के सूदखोर साहूकारों, कपटी लोगों तथा पाखंडी पुजारियों-मुल्लाओं की नकलें भी उतारते। सुनने में आया है कि इन व्यंग्यपूर्ण नकलों के अलावा भगतिये धार्मिक विषयों पर भी नाटक खेलते थे।"

इस ब्योरे से इतना तो पता चलता है कि भगतां में लोक-नाटक के सभी गुण मौजूद थे। अर्थात् कोई सामाजिक व्यंग्य-कथा या कोई धार्मिक पौराणिक कथा, नाटक खेलने वाले लोक-कलाकार दर्शक। इन बुनियादी तत्वों के अलावा, भगतां जैसे लोक-नाटक के प्रदर्शन में सहायक अन्य कई तत्वों की कोई जानकारी नहीं मिल सकी। जैसे लोक-कलाकारों का मेक-अप, कपड़े-पोशाक, नाटक की कथावस्तु का चुनाव तथा उस चुनी हुई कथावस्तु पर मौखिक नाट्य-रचना तैयार करने का तौर तरीका, और उस नाट्य-रचना को पेश करने वाले कलाकारों को सिखलाई एवं अभ्यास और इन नाटकों को खेलने के लिए उचित मौसम आदि।

कथावस्तु, खास कर अपने क्षेत्र की तत्कालीन सामाजिक समस्याओं या परिस्थितियों पर आधारित बिषयों का चयन जिसमें इलाके के प्रभावशाली व्यक्तियों, चौधरियों, जमींदारों, पंत-मुल्लाओं, शाह-साहुकारों को नाटकीय व्यंग्य का निशाना बनाने वाली बात जरा कठिन कार्य हैं। इसके अलावा इन लोक-नाटकों का आर्थिक पहलू भी एक आवश्यक और विचारणीय बात है। एक और जिज्ञासा यह भी है भगतां खेलने वाले संगठनों का स्वरूप क्या था? क्या रासमंडलियों की तरह इनका भी कोई स्थायी संगठन होता था अथवा हर बार नए सिरे से कुछ कला-रुचि वाले इकट्ठे होकर यह नाटक खेलने का निश्चय करते थे ओर इनका प्रदर्शन करते थे? इनके कार्य क्षेत्र का घेरा कितना व्यापक या सीमित होता था? अर्थात् क्या यह भगतिये टोले बी रास-मंडलियों की तरह दूर-दराज के अन्य स्थानों पर भी प्रदर्शन करने के लिए जाते थे या नहीं? शायद बसोहली के इलाके के बुजुर्गों से आज भी इन सब बातों की जानकारी हासिल की जा सकती हो।

पता चला है रावी-पार कांगड़ा जिले में आज भी भगतां और कुछ दूसरी लोक-नाट्य परम्पराएं जीवित हैं। इस बात की जानकारी का एक स्रोत 'नमीं चेतना' का जुलाई-सितम्बर (1977 ई०) (अंक नं० 41) में छपा हुआ, कांगड़ा के एक प्राध्यापक शिव उपाध्याय का एक लेख है जिस का शीर्षक है—"कांगड़ी लोक-नाटक"!

श्री उपाध्याय कांगड़ा के लोक-नाटकों के रूप-स्वरूप की चर्चा करते हुए लिखते हैं:—

"कांगड़ा में यदि इस कला के दाणे-मणके (मोती) जोड़े जाएं तो पुरानी

भगतां और इसके दो प्रमुख रूप सामने आते हैं :—

(1) स्वांग एवं (2) रास-भगत।

1. स्वांग के आगे प्रमुख भेद हैं :—

चन्दरौली—"चन्दरौली" नाम का यह लोक नाटक सर्दियों के दिनों में खेला जाने वाला एक मशहूर स्वांग है। चन्दरौली मूल चन्द्रांवली का विकसित रूप है जोकि एक सखि का प्रतीक है। इस में प्रमुख पुरुष-पात्र 'रौंलू' होता जो नोकदार कुल्ला टोप लगाकर, ऊटपटांग कपड़े लटकाकर, कमर में एक काला डोरा या रंगबिरंगी चादर की फटी कतरनें लपेट कर, कोई फटा हुआ पायजामा (सुत्थणू) पहन कर, हाथों पैरों तथा मुंह के साथ धूल तथा राख के साथ लाल तथा काली लकीरें बनाता। एक हाथ में चीथा हुआ डंडा (डंडखोर) और दूसरे हाथ में रूमाल लेकर मंदलू, तवले, कंसियां और हारमोनियम के ताल पर चन्दरौली के आगे-पीछे मसखरियां करते हुए नाचता तथा गाता है। चन्दरौली चटक-मटक घाघरा पहने, गोटे जड़ी लाल सुहागी बड़ी ओढ़नी (सालू) ओढ़े, सिर पर चक्क (आभूषण) लगाए, नाक में बालूं-बेसर लटका कर उसके आगे पीछे घूमती। यहां कृष्ण के लिए रांधा के प्रेम की लीला करती। कभी दोनों लुकाछिपी खेलते, कभी सीटियां मारते, एक-दूसरे पर गिरते-पड़ते दर्शकों को हंसाते। वास्तव में यह स्वांग कृष्णलीला की झलक अपने रंग-ढंग में पेश करता। इसे खेलने वाले कांगड़ा शहर में झीर तथा पालमपुर में झीर तथा जुलाहे होते। गानों की रुणन-झुनन में माता की भेंटें तथा रित्तड़ियों के गीत भी सुनने को मिलते।

दूसरा है झमाकड़ा—यह स्वांग ब्याह-शादियों के अवसरों पर संस्कार तथा लोकाचारों का बड़ा आवश्यक अंग बन गया है। दुल्हा-दुल्हन को नहला-धुला कर माश-सरसों (सेती सरेंआं) को छौंक लगा कर, भटूरे के चार टुकड़े करके, चारों तरफ फैंका जाता है। दूसरी तरफ सुहागवती ताइयां-चाचियां तथा अन्य स्त्रियां आटे का 'नानू' घड़ कर, उसे लाल अंगोछा पहना कर नाचती हैं। मामा की ओर से आई स्त्रियां उसे हासिल करने के लिए छीना-झपटी करती हैं। साथ ही गा-गाकर गालियों की बौछार भी करती हैं। स्त्रियां नग्न नानू की एक झलक दिखातीं और छीनने का संघर्ष चलता रहता।

स्वांग का तीसरा रूप है गिद्दा—यह शब्द पंजावी गिद्दे की तरह लगता है पर इन दोनों में अन्तर है। इसे कई स्थानों पर **'नाच'** या सिर्फ स्वांग भी कहते हैं। इसे करने वाली केवल स्त्रियां ही होती हैं। जिस रात दुल्हा बारात लेकर ब्याहने जाता है। उसी रात यह 'गिद्दा' डाला जाता है। नाचने वाली स्त्रियां बन्द कमरों में पति-पत्नी, सास-बहु, भाभी-देवर आदि बन कर

नोंक-झोंक, लड़ाई-तकरार तथा प्रेम के लटके-झटके दिखाकर डरपोक मर्दों की नकलें उतारतीं हैं तथा स्त्री-पुरुष के यौन सम्बन्धों तक को नाच-गा कर दिखाया जाता है।

कांगड़ा नाटक का दूसरा रूप है **रास तथा भगत।**

(क) **रास**—यह नृत्य नाटक है। इसमें नाच के साथ-साथ कथा चलती है जिसमें अधिकतर कृष्ण लीला होती है। कई बार कोई पुराण-कथा जैसे—भक्त प्रह्लाद, पूर्ण भक्त, रूप-बसन्त आदि भी खेली जाती।

सर्वप्रथम राम या कृष्ण की आरती उतारी जाती। फिर एक विदूषक आकर कथा का सूत्र जोड़ता। फिर कलाकार अपने रूप सजाकर अपना-अपना पार्ट करते। लड़के ही स्त्री पात्र बनते। लोग वारफेयर करते (सिर से घुमा कर पैसे भेंट देते)।

(ख) **भगत**—यह लोक-नाटक निम्न जातियों में खेला जाने वाला बड़ा प्रचलित लोक-नाटक है। किसी ब्याह-शादी या कोई और मन की मुराद पूरी करने के लिए लोग भगतों की मन्नत मानते हैं। फिर यह मन्नत पूर्ण हो जाने पर भगत करवाते है।

इसमें पहले आरती होती है। फिर मसखरा आकर कथा-सूत्र जोड़ता है। फिर कोई पुराना आख्यान छेड़ा जाता है। ज्यादातर कृष्ण लीला ही दिखाई जाती है। -रास' में कोई सीमा मर्यादा देखने में फिर भी आती है परन्तु भगत बिलकुल मस्त-नफिकरी चलती है। जो मुंह में आता है, बोल दिया जाता है। मूल कथा में कई कलियां जोड़ दी जाती हैं। भगत की मन्नत करने वाले पहले रोट-कड़ाह, (रोटी-हलवा) को **दान करते** हैं फिर कलाकार अपना रंग दिखाते हैं।

वास्तव में 'रास' और 'भगत' ही कांगड़ी लोक नाटकों के रूप, नाटक की समानता के प्रतीत होते हैं। इत्यादि।

इतने विस्तार के साथ **"कांगड़ा लोक नाटक"** का यह उदाहरण देना आवश्यक है ताकि डोगरा पहाड़ी इलाके के ही इस प्रदेश में लोकनाट्य परम्परा की स्थिति को समझा जा सके।

लेख में इस तरह का आभास मिलता है कि कांगड़ा में **रास और भगत** लोक नाटक की दोनों विधाएं इस समय तक मौजूद है।

श्री उपाध्याय जी ने भी अपने लेख के अन्त में एक बात स्पष्ट रूप से स्वीकार की है कि 'स्वांग' को नाट्य परम्परा का एक अंग नहीं माना जा सकता। स्वांग की तीनों किस्मों में नाटकीयता वेशक है किन्तु नाटक-रूपता

नहीं है। उनमें चन्दरौली में ज़रूर कुछ नाठक-रूपता है, पर वह प्रदर्शन भी ज्यादातर किशोरों के साथ ही सम्बन्धित लगता है। इसमें न तो कोई कथानक मिलता है और न ही कथोपकथन। नम्बर दो स्वांग झमाकन, ब्याह् के उत्सव का ही एक अंग है। इसमें भी न तो कोई कथानक होता है और न ही वार्तालाप और न ही इसका प्रदर्शन कहीं आम लोगों के लिए आयोजित किया जाता है।

स्वांग का तीसरा रूप गिद्दा (नाच या स्वांग) भी लड़के की शादी वाले घर का ही लगभग गुप्त प्रदर्शन होता है। हमारे इलाके में इसे 'जागरना' कहा जाता है। इस प्रदर्शन में भी केवल नाटकीयता ही होती है। इसे नाटक विधा के अन्तर्गत नहीं गिना जा सकता।

इस लेख के अनुसार कांगड़ा में 'रास' निश्चित रूप से एक स्था ीय लोक नाटक-विधा है। निश्चित रूप से यह उत्तर प्रदेशी रास लीलाओं की ही प्रेरणा की उपज है, पर प्रतीत होता है जैसे इसे कांगड़ा की धरती ने अपनी रंगत देकर अपना लिया है। लेख से चाहे यह बात स्पष्ट रूप से सामने नहीं आती कि कांगड़ा के रास प्रदर्शनों में सिर्फ कांगड़ी भाषा ही प्रयुक्त होती है अथवा नहीं। पर निश्चित रूप से वह हिन्दी भाषीय प्रदेश की रास लीलाओं का ही एक विस्तार (Extension) मात्र नहीं होगा। उसमें स्थानीय रंगत तथा वहां की जनभाषा साथ ही तो आई होगी। रासों का सम्बन्ध स्थानीय समस्याओं या सामाजिक विषयों के साथ नहीं होता। पैसे भेंट करने (बेलां देनां) का रिवाज भी इसको रासों की व्यापक परम्परा के साथ जोड़ता प्रतीत होता है।

कांगड़ा का भगत नाम से प्रचलित लोक नाट्य के विवेचन में कुछ नई बातों का संकेत मिलता है। जैसे :—

1. लोग अपने मन की मुराद पूरी होने पर भगत की मन्नत मानते हैं। हमारे इलाके में मन्नत पूरी होने पर यज्ञ करवाने, छिंज करवाने, कीर्तन करवाने वगैरा के रिवाज हैं पर भगत की मन्नत करने वाली बात हमारे लिए नवीन है। श्री उपाध्याय ने 'रास' के बारे में भी मन्नत मानने का कोई संकेत नहीं दिया। जाने क्यों ?

2. कथा-वस्तु के लिहाज से 'रास' और 'भगत' दोनों ही एक समान है, पर दोनों में बुनियादी अन्तर केवल इतना है कि भगत सिर्फ निम्न जातियों में खेला जाता है। क्या बसोहली के इलाके में भगत नाट्य परम्परा का प्रदर्शन करने वाले अधिकतर पिछड़े तबकों के ही लोग होते हैं ? इस बात का कोई भी स्पष्ट संकेत श्री जितेन्द्र शर्मा के लेख में नहीं मिलता।

3. हमारे इलाके में 'भगतां' में स्थानीय समस्याओं पर हास्य व्यंग्य की चोट करने की जो बात बड़ा जोर देकर कही जाती है—उसकी चर्चा कांगड़ी रास या भगत दोनों में ही नहीं मिलती । मैं भगतों के बारे में श्री जितेन्द्र शर्मा जी के लेख का उदाहरण देकर इस बात के बारे में पनपी उत्सुकता का संकेत दे आया हूं कि जमींदारों, शाह, चौधरियों या पंतों आदि के प्रभावपूर्ण एवं शक्तिशाली तत्वों को नाटकों में हास्य व्यंग्य को निभाना बड़ा जरा अटपटी की बात लगती है । इसे वास्तव में निभा सकना उन पिछड़ी जातियों के लोक-कलाकारों की जुर्रत तथा कला दोनों दृष्टियों से ज़रा कठिन कार्य है ।

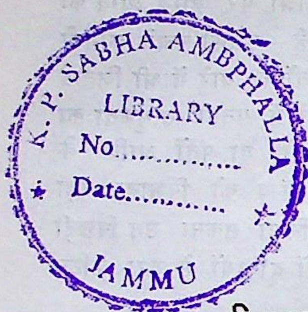
कांगड़ी लोक-नाटकों में इस तरह के हास्य व्यंग्य का सकेत नहीं मिलता ।

इस विवेचन से संकेत मिलता है कि रावी के पार से निश्चय ही तथा रावी के इस ओर से मात्र अनुमानतः ही कहा जा सकता है कि 'भगतां या भगत' नाम के इस लोक नाटक की परम्परा थी । रावी के इस ओर अब इस तरह की कोई भी परम्परा मौजूद नहीं है, वहां शिव उपाध्याय के लेख के प्रमाण के साथ इस बात का पता लगता है कि वहां सिर्फ भगत नाम के लोक नाटक का ही प्रचलन आज तक बना हुआ है, उसी के हमशक्ल 'रास' नाम के लोक नाटक का भी चलन कायम है ।

क्या डोगरा इलाके में पुनः किसी तरह की लोक परम्परा को चालू किया जा सकता है ?

डोगरा प्रदेश में रामलीला खेलने की जो परम्परा चल रही है उस का अभिनय आदि के स्तर पर और राम-चरित्र की मूल भावना की सही अभि-व्यंजना की दृष्टि से कितना महत्त्व है ?

रामलीला के अलावा सामाजिक या धार्मिक नाटक खेलने की रुचि का क्या भविष्य है ? □



हिमाचल में पहाड़ी लोककलाएं

□ डॉ० गौतम व्यथित

अनु० : शिव रैना

हिमाचल एक आदि प्रदेश है। इसमें लोककला की परम्परा बड़ी गहरी और पुरानी है। स्थानीय गढ़-किलों, मंदिरों, महल-चौबारों, जागीरदार घरों इत्यादि में, पत्थरों के साथ लकड़ी पर हुए अनोखे काम के नमूने, आज भी मिलते हैं। यहां के मंदिरों में सजे-बने कांसे सहित पत्थरों की मूर्तियों की जांच-परख द्वारा कांस्य-प्रस्तर मूर्तिकारों की पुरानी परम्परा के संकेत मिलते हैं। बहुरंगी वास्तुकला के नमूने भी सरलता से उपलब्ध हैं। चितेरों, सुनारों, कुम्हारों, खरादियों आदि की पिता-पुरखी कृतियों पर अंकित विलक्षण चित्रकारी के नमूने, अपना विशेष महत्व रखते हैं। व्रतों, मोक्षों, तीज-त्योहारों आदि पर लोगों द्वारा बनाए गए भित्ति-चित्र भी स्थानीय संस्कृतियों सहित परम्परा-संकेत देते हैं। आदि क्षेत्रों में शिवरात्रि, दशहरा तथा अन्य मेलों-ठेलों पर प्रयुक्त नाच-रंगीय बनाव-श्रृंगार एवं विवाह आदि अवसरों पर पुरोहितों-ज्योतिषियों द्वारा लिखित मंडल व यंत्र भी, लोककला के नमूने हैं। हिमाचली लोककला का अध्ययन निम्नांकित ढंग से कर सकते हैं :

पर्व सज्जा संबंधी लोककला।

आनुष्ठानिक लोककला।

व्यावसायिक लोककला।

मनोरंजनात्मक लोककला।

पर्वसज्जा संबंधी लोककला

कांगड़ा में कुंवारी कन्याओं एवं नवविवाहिताओं के लिए 'पंखड़ी हंडाणा' बड़ा शुभ व पतिव्रत धर्म का शुभ संकेत माना जाता है। ताजा गोबर

के साथ महिलाएं फर्श पर उंगलियों के ब्रश से कहीं बेल-बूटे, कहीं तीतर-मोर तो कहीं स्त्री-पुरुष बनाती हैं। इन चित्रों पर हरी दूब, पुष्प, अक्षत, धूप-टीका, सिंदूर आदि भी इस ढंग से बिछाती हैं, जैसे सृष्टि की आदि कलाकार हों। ऐसे ही, हिमाचल के अन्य क्षेत्रों में विवाह आदि उत्सवों, पर्व-त्योहारों पर भी महिलाएं आंगन-द्वारों में भांति-भांति के शब्द, चित्र आदि बनाकर, अपनी आंतरिक कलात्मकता का परिचय देती है। ब्याहों पर उनके बनाए बेल-बूटे व सतरंगे डिज़ायन, बड़े-बड़े कलाकारों को मात देने लगते हैं।

दीवाली के दिनों में, आंगन में काली, सफेद और सुर्ख सामग्री से बनाए गए गोल, चौरस फुलकारी, तीतर, मोर, कंगूरे, बत्तखों, बावड़ियों, घड़े, चंद्र, अर्धचंद्र तथा स्वास्तिक के चित्र, अपनी मिसाल आप होते हैं। सराहन की ओर तो लोग आटे से 'राजावलि' की मूर्तियां बनाते हैं। लोहिड़ी की अपनी ही धमक और नखरा है। चूल्हा-चौका, खिड़कियां-द्वारों को गोल-गोल बिन्दुओं के साथ इस ढंग से संवारा जाता है, मानो आकाश के सारे सितारे धरती पर उतर आए हों। नवरात्रों, रलियों, नागपंचमी जैसे व्रतों-त्योहारों पर भी इसी कला के नमूने मिलते हैं। इनका विषय 'फ्लोरल' (पुष्प-अंकन) आदि होता है।

आनुष्ठानिक लोककला

आनुष्ठानिक लोककला के दो रूप हैं : जनता के भित्ति चित्र और/व्याह आदि के अवसरों पर ब्राह्मण-ज्योतिषियों द्वारा निर्मित पूजा-मंडल।

जन-भित्तिचित्र व्रतों-अनुष्ठानों पर मिलते हैं। इन चित्रों का भाव क्रुद्ध और असंतुष्ट देवी-देवताओं को मनाने की मिन्नत-खुशामद लगता है। अहोई/बूहला चौथ/बच्छ-दुआह/गो-तृतिया/ज्येष्ठ-नवमी जैसे व्रतों पर पूजा-प्रसन्नता के लिए जो जन-चित्रकारी होती है, उसमें इन्हीं मूल-भावों का खुला प्रचार रहता है। वास्तव में, इन मूर्तियों व चित्रों में व्रत-कथा संबंधी मूल भावनाओं का प्रतीकात्मक प्रयोग मिलता है। जैसे—बूहला चौथ। इस व्रत का चित्रलेखन 'छज्जे' पर होता है। महिलाएं छाज को गोबर से लेपकर, उस पर कथानुसार गौएं, बछड़े, शेर, घर, सूरज, तारे, अर्द्ध-चंद्र, गाय का दूध पीता बछड़ा बनाती हैं। 'अहोई माता' का पूजन 'दुआला' पर होता है। महिलाएं दीवार पर अहोई की मूर्ति के साथ, कथानुसार, मुंडू, रोटियां, ठौड़ियां, डोली उठाए कहार, सूरज, चंद्र तथा बहुत कुछ अंकित करती हैं। ये सारे चित्र मूल कथा के प्रमुख विषयों से संबंध रखते हैं। ऐसे ही बच्छ-दुआह, कजली-तृतीया, गोतृतीया, करवा चौथ, पंचभीखम, तुलसी-विवाह आदि व्रतों पर देहरियों और दीवारों पर चित्रित चीजें देखते ही बनती हैं। कहीं चौरस रेखाएं, कहीं आयताकार, कहीं बेल-बूटे, बिंदु, एक कोने में गणेशजी और चूहे की मूर्तियां—और साथ

ही उड़ते कीट-पतंगे ! तुलसी के विवाह पर तो टीन के पीपे को चूने से पोतकर, ब्याह जैसा देहरा अंकित किया जाता है ।

पूजा-मंडल

पहाड़ी लोगों पर ब्राह्मणवाद का खासा प्रभाव मिलता है । यहां वैदिक और पौराणिक कथाओं के पारंपारिक प्रतीक वक्त की रफ्तार के साथ पहाड़ी जन-मानस में रचते-बसते रहे हैं । कुछ समय बाद इन चित्रों का प्रयोग त्योहारों, पर्वों तथा सामाजिक-सांस्कृतिक अनुष्ठानों में लोकप्रिय होता गया । स्थानीय समाज में पुरोहितों का बड़ा महत्व है । जीवन में 'संस्कार' का अपना स्थान एवं महत्व है । जन्म, मृत्यु, विवाह, व्रत-त्योहार, पूजा-पाठ कुछ भी आरम्भ करने से पूर्व ताज़ा गोबर से मंडप लेपा जाता है । इस पर चावल या गेहूं के आटे से नौग्रह, चंद्र, सूरज, ओंकार, सप्तऋषि इत्यादि बनते हैं । इन मंडलों में सर्वतो भद्रमंडल, कात्यायन तिलक मंडल, नवग्रह मंडल, अक्षदल, स्वस्तिक, कुंभ, मच्छ, गणपति, ओंकार, कलसा, वसुधारा आदि मुख्य हैं । व्रतों, मोक्षों पर बने मंडल आटे से बने रंगों से सजाए जाते हैं । इनके आनुष्ठानिक एवं लौकिक महत्व को नकारना सहज नहीं ।

व्यावसायिक व मनोरंजनीय लोककलाएं

इन लोककलाओं में कांस्य-पत्थर मूर्तिकला, वास्तुकला, चित्रकला, खराद, गोदना, आभूषण-कला, रंगाई, कताई, कढ़ाई, खेल-खिलौनों की कला, जूते, चप्पलें, गुड़ियां बनाने की कलाएं रखी जा सकती हैं ।

कांस्य मूर्तिकला

हिमाचल के अनेक मंदिर कांस्य-मूर्तियों से भरे पड़े हैं । इन पर हुए लालित्यपूर्ण छबीले रेखा-चित्र बड़े लोकप्रिय हैं । इनका अध्ययन करने से सांझी भारतीय कांस्य-मूर्तिकला का परिचय मिलता है । बी० एन० शर्मा कहते हैं : छतराहड़ी, भरमौर, वजौरा (कुल्लू) तथा अन्य स्थानों पर कांस्य-मूर्ति के स्टुडियो थे, जिनमें कलापूर्ण व मनमोहक मूर्तियां बनती थीं । इनमें से कुछेक हिमाचल के मंदिरों में रखी गयी हैं । अनेक मूर्तियों की हालत खस्ता है । इनसे इस प्रदेश में कांस्य-मूर्तिकला की धरोहर का संकेत मिलता है । चम्बा के कांस्य-मूर्तिकार शिल्पी 'गुग्गे' का नाम कई मूर्तियों पर अंकित मिलता है । गुग्गे का सम्बन्ध आठवीं शताब्दी के चम्बा-शासक मेरुवर्मन के साथ जोड़ा जाता है । मेरुवर्मन के आदेश पर उसने असंख्य चित्र बनाए । अर्द्ध-नारीश्वर और विष्णु-मूर्तियां मूर्ति-शिल्प के अनूठे नमूने हैं । स्कन्द कार्तिकेय की मूर्ति छठी-सातवीं सदी की

है। इन मूर्तियों में सदाशिव, सदाशिव-पत्नी, गणेश, वैकुण्ठ-विष्णु, उमामहेश्वर, महिषासुर मर्दिनी, कार्तिकेय, दुर्गा, शक्ति आदि रूप बड़े लोकप्रिय है। इनके रंग-रूप पुराण-कथाओं के अनुसार मिलते हैं। शिमला ज़िले और नरमुंड क्षेत्र में इसी कला का संकेत मिलता है। सन् 750 ई० से 1030 ई० तक उत्तरी भारत में प्रतिहारी, विशाल-राज्यकाल में कांस्य-मूर्तियां बनीं। कांसे के साथ पीतल के बर्तनों पर भी चित्र-लेखन होता रहा है। कांगड़ा में 'गंगथा' का नाम इस लिए लोगों की ज़ुबान पर रहता था। बड़े थालों, गिलासों, गड़वों, चरोटियों, संदूकचियों, डिब्बियों, पूजा-पात्रों, घंटियों, आसनों, चौकियों आदि पर फ्लोरल पेंटिंग्ज़ व सूक्ष्मचित्रण परम्परा-प्रवाह के संकेत मिलते हैं। चम्बा, कुल्लू, सिरमौर, किन्नौर क्षेत्रों के बड़े घरों में, इन चीजों के संग्रह मिलते हैं।

पाषाण-मूर्तिकला

यह प्रदेश शैव, शाक्त तथा पौराणिक देवी-देवताओं के मंदिरों से भरा है। इनमें स्थापित पत्थरों की गढ़ी-तराशी मूर्तियां पाषाण-कला के उत्कृष्ट नमूने हैं। दुर्गा, महिषासुर मर्दिनी, सिंहसवारी भवानी की मूर्तियों की भाव-भंगिमा, रूप-शोभा, नयनों की मादकता एवं क्रोध देखते ही दम्भी-घमंडी मानव का माथा स्वयंमेव झुक जाता है। लाहौल स्पीति, कुल्लू, किन्नौर जैसे पहाड़ी क्षेत्रों का रूप व रौब स्थानीय धारणाओं के अनुसार मिलता है।

ग्रामीण गुग-मढ़ियों में गुग्गा व गुगड़ी; उसकी सेना, घोड़े, घुड़सवार आदि पत्थरों पर बड़ी चतुराई से गढ़े बने मिलते हैं। गांव में किसी की मृत्यु पर 'मुहरे' तराश कर कुओं-बावड़ियों पर रखने की प्रथा भी इस कला को प्रोत्साहित करती है। यह कला 'बटैहड़ेयों' ने आज भी सम्भाल कर रखी है। घरों-द्वारों में गणेश-मूर्तियों की स्थापना मिलती है। शैव मंदिरों में शिवलिंग, नंदीगण, नागमूर्तियां आदि ग्रामीण कलाकार बनाते हैं। शेर, हाथी, गरुड़, पशु-पक्षी भी अपना प्रतीकात्मक महत्व रखते है।

वास्तुकला

प्राचीन दुर्ग, देवालय, महल तथा विशाल भवन वास्तुकला के सुन्दर नमूने हैं। इनके गहन अध्ययन से पता चलता है कि इस कला की लंबी परम्परा रही है। दीवारों-द्वारों पर खुदाई-कार्य के कई नक्श-निगार भी मिलते हैं। शिवमंदिर— बैजनाथ तथा मसरूर ठाकुरद्वारा एक ही पत्थर पर तराशकर बनाया गया बताते हैं। चम्बा, मण्डी, बिलासपुर, कुल्लू के मंदिरों, महलों, किलों में हुए इसी कला के कार्य, वास्तुशिल्प को मात देते हैं। बड़े-बड़े इंजीनियर पत्थर पहाड़ों के गगन-चुम्बी भवन देख कर ठगे रह जाते हैं। ओखलियां, कूंडे,

कूंडियां, मूर्तियां, खेल-खिलौने भीं इसी कला के रूप हैं। 'छेनी और हथौड़ा' केवल दो औजार, इतने बड़े चमत्कार कर सकते हैं—कई बार ये कलाकृतियां दिमाग चकरा देती है। छप्परों और मंदिरों के भव्य नमूने इस कला के मुंह बोलते गवाह हैं।

काष्ठ-कला

हिमाचल के पहाड़ी इलाकों में 'लकड़ी के बने मंदिरों' की निराली व मनमोहक शोभा है। मिंधल (पांगी), छतराहड़ी (चम्बा), भरमौर, मनाली, पराशर, करसोग, सरांह, मूरंग, सराहन आदि में स्थित काष्ठ-मंदिर इस कला के अद्भुत नमूने हैं। इनमें प्रयुक्त लकड़ी पर हुए खुदाई के काम तथा चित्रांकन बेमिसाल हैं। जिला शिमला के नीथर गांव में एक सूर्य मन्दिर है। इसके द्वार पर नंदी सवार शिव, उनकी गोद में पार्वती, शिव जटा व बहती गंगा बड़े सजीव तथा मोहक लगते हैं। ऐसे ही चौपाल में 'बीजट देवता' के मंदिर का एक बड़ा द्वार है। इसमें बंदूकें दागते सिपाही, मल्ल युद्ध करते पहलवान, खड्ग नृत्य आदि के दुर्लभ नमूने हैं। मलाण (कुल्लू) तो अपने रंग-ढंग का एक अनोखा और अलग ही गांव है। इसमें एक खम्भा नजर आता है, जिसमें रति क्रिया के उत्तेजक दृश्य तक उत्कीर्ण है। परन्तु ऐसे चित्र अन्यत्र कम मिलते हैं। सित्पी बाहड़ी जातियों में भी खरादी कामों को परम्परा रही है। हंडू, पारू पातड़ियों, संदूकचियों, रैक, ऊंचे आसनों, चौकियों, शृंगारदान, आलमारियों, कुर्सियों, मेज़ों पर भी इस कला के फलने-फूलने के, प्रशस्त मार्ग मिलते हैं।

भित्तिचित्र

ये चित्र दीवारों पर बनते हैं। इसके लिये चिकनी मिट्टी, चूने, गारे आदि का प्रयोग करके दीवारों पर सतह-धज्जी तैयार करते हैं। खड़िया गोलियों में चावल का मांड मिला कर प्लस्तर करना आवश्यक है। इसमें जस्त-भस्म के साथ सरेश भी मिलाया जाता है, ताकि काफी नरम हो जाए। ये चित्र वाल-पेंटिग्ज के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके दो रूप मिलते हैं : व्यावसायिक चित्रकारों के चित्र और संस्कारों-व्रतों पर बनाए गए जन-चित्र।

इन चित्रों को बनाने में धन और समय बड़े लगते हैं। इसी लिए यह कला राज दरबारों तक सीमित रही। चम्बा, मंडी, कांगड़ा, कुल्लू, बिलासपुर आदि रियासती राजधानियों में खड़े मंदिरों, किलों, महल-चौबारों, अमीर घरों आदि में इसके नमूने मिलते हैं। चंबे का रंगमहल इस कला का एक ऊंचा व दुर्लभ नमूना है। इसको राजा उमेदसिंह (1748-1764) में बनाना शुरू किया था। इसमें राजसिंह, जीत सिंह और राजा चढ़त सिंह ने अपनी रुचि अनुसार आगे

बढ़ाया था। अखण्डचंडी महल, लक्ष्मी नारायण मन्दिर, दुर्गा और मांगणू (चित्रकार) आदि के अपने घरों में भी इस कला के सुन्दर नमूने मिलते हैं। देनी-कोठी और छतराहड़ी माता का मंदिर बेमिसाल है। कहते हैं ये चित्र दुर्गा और मियां तारासिंह ने बनाए हैं। मंडी में राजा सूरसेन का दमदमा भवन और मियां भार्गसिंह की हवेली (1846-1851) भित्ति चित्रों की प्रदर्शनी है। मुहम्मदी गहियाराम, गोवर्धन कायस्थ आदि जाने-माने भित्ति-चित्रकार थे। बिलासपुर और सुजानपुर भी इस परम्परा से अलग नहीं हैं। बिलासपुर के भित्तिचित्र तो गोबिंदसागर में गोते खा रहे हैं। कुल्लू और बिलासपुरी भित्ति-चित्रों पर कांगड़ा-कलम का प्रभाव लगता है। इन चित्रों का विषय कृष्णलीला, रामलीला, लक्ष्मीनारायण, बेल-बूटे, पक्षी, नायिका भेद, रूपचित्रण इत्यादि रहा है। दहेरा-लेखन या कामदेव, द्वार-लेखन-शृंगार भी इसी परम्परा का एक पक्ष हैं।

पहाड़ी-चित्रकला

पहाड़ी चित्रकला (हिमाचल) में, गुलेर क़लम का नाम सबसे पहले आता है। यह प्रदेश पुनर्गठन से पूर्व छोटी-छोटी रियासतों में बंटा था। कांगड़ा, चम्बा, कुल्लू, बिलासपुर, मण्डी के शौकीन राजाओं ने चित्रकला को फलने-फूलने की सुविधाएं दीं। इसलिए 'कांगड़ा-कलम' का डंका दुनिया में बजने लगा। इसके विकास के इतिहास में राजा संसार चन्द (1775-1823) का नाम बड़े सम्मान के साथ जुड़ गया है। चम्बा क़लम राजा राजसिंह (1765-1794) की लगन से आगे बढ़ी। चम्बा में 'निक्के' चित्रकार की तस्वीरें बड़ी लोकप्रिय हैं। यह सन् 1765 में गुलेर से चम्बा गया था। 'मंडी कलम' में सबसे पुरानी तस्वीर राजा केसवसेन की है, जो लगभग 1595 की है। राजा घमंड चन्द ने कुल्लू पर चढ़ाई की, जिसके कारण इस क्षेत्र में भी कांगड़ी चित्रकार पहुंचे। सन् 1667 में राजा प्रीतम सिंह कुल्लु का राजा बना और तबसे ही 'कुल्लू कलम' का विकास शुरू हुआ।

कांगड़ा कलम ने दुनिया में धूम मचाई। इस चित्रकला पर तो कला-इतिहास वेत्ता 'हैवल' तथा 'स्मिथ' भी मंत्र-मुग्ध हो गए। लॉकवुड किपलिंग ने तो कहा था : "चित्रकारी में, 'कांगड़ा कलम' एक मुहावरा बन गई है।" डब्ल्यू जी. ऑर्चर और डॉ० रंधावा ने भी इस कलम की विरासत ढूंढते हुए बहुतेरा नाम और दाम कमाया। शाही घरानों, चित्रकारों और अन्य राजाओं के सज्जनों-मित्रों के साथ सांठ-गांठ की। लाखों की तस्वीरें भूसे के भाव खरीदीं और इन्हें दुनिया के अन्धेरे कोनों में जा पहुंचाया। चित्रकला-प्रेमी राजा संसार चन्द के विषय में हचिन्सन लिखते हैं : "राजा स्वयं चित्रकारी करता है और उसने

अनेक चित्रकार रखे हैं। इसके पास तस्वीरों का असीम भण्डार है । रियासती राजाओं के चित्र भी सम्भाल कर रखे हैं। इसके पास अलक्षेन्द्र की दो तस्वीरें हैं। एक मुझे भी भेंट की।"

भागवतपुराण, गीत गोविंद, रासलीला, रामलीला, शिवलीला, दुर्गाशक्ति लीला, बिहारी सतसई, रसिकप्रिया, कविप्रिया, नलदमयन्ति प्रणय, रागमाला इत्यादि इन चित्रों के आम विषय हैं। आम आदमियों की तस्वीरें भी बनी हैं । ये तस्वीरें सियालकोटी कागज़ पर बनती है, जिनको एक विशेष ढंग से बनाते हैं। इसके रंग भी बाजारू नहीं बल्कि फूलों, पौधों, बीजों, जड़ों इत्यादि को पीस कर बनाए गए होते हैं। ज्यादातर सुर्ख, पीला, नीला रंग बरता जाता है। कुछेक चित्रकार यह भी बताते हैं कि इनमें सोने-चांदी व मोतियों का मिश्रण भी रहता है।

प्राय: इन चित्रों के प्राचीन खाके मिलते हैं। इनके मूलचित्र हिरणों की खाल पर बनते थे। इनमें हाथी, हंस, बैल, गाय, पपीहा, तोते, मैना, मोर, चकोर, पेड़-पौधे, वेल-बूटे, केले, जामुन, सेमल, सरू, बादल, वर्षा, बिजली, सुराही, घड़ा, शीशा और प्राकृतिक सौन्दर्य-चित्रण भी मिलते हैं। परन्तु ये सब अपना प्रतीकात्मक महत्व रखते हैं।

रियासती संरक्षण में पलती-बढ़ती चित्रकला रियासतों की समाप्ति से कुम्हलाती गई। चित्रकार अपने पिता-पुरखी काम छोड़कर, दूसरे कामों पर हाथ मारने लगे। निर्धनता में खाके, रंग, कलम, तस्वीरें—सब कुछ बिकते गए। कुछ समय बाद, डॉ० रंधावा ने इस धरोहर का मूल्य पहचाना। अखबारों में बात चली। रिसर्च आदि हुई। कांगड़ा कलम के अन्तिम चित्रकार चन्दु लाल रैणा ने गुरु-पदवी पाई। उसने इस कलम को पुन; जागृत करने के लिए प्रचार किया। रैणा लांगड़ा में अब 'कांगड़ा-स्कूल' चला रहा है। कुछेक नए चित्रकार भी उभरे हैं। इनमें ओम प्रकाश टॉक, संसारचन्द रैणा इत्यादि के नाम गिने जा सकते हैं। पुराने खाकी काम के अलावा कथा-गीतों पर तस्वीरें बनने लगी हैं। यह इस कला-परम्परा में एक नई विशेषता आई है।

कशीदाकारी, पहाड़ी रूमाल

हिमाचली लोककला में 'पहाड़ी रूमाल' का एक अपना अलग स्थान है। यह रूमाल कांगड़ा, चम्बा, मण्डी, बिलासपुर, कुल्लू, सिरमौर सभी क्षेत्रों में बनते हैं। इन सब में 'चम्बा के रूमाल, बड़े मशहूर हुए। इनकी कला दूर-दराज़ तक चर्चा का विषय बनती रही। पहाड़ी रूमालों में बसोहली के रूमाल परम्परा की दृष्टि से, बड़े पुराने हैं। वहीं से यह कला चम्बा पहुंची। फिर

राजा ससारचन्द के समय यह कला कांगड़ा पहुंची। इसके बाद जहां-जहां भी कांगड़ा-शासकों का प्रभाव हुआ, यह कला वहां भी फलती-फूलती गई।

ये रूमाल वर्गाकार कपड़े पर बनते थे। कहीं-कहीं लम्बाई-चौड़ाई का का नाप बढ़ता-घटता भी रहा। थापडे, दीवार से लटकाने वाले कपड़े, सिरहाने के गिलाफ, चोलियां, टोपियां (विशेष रूप से चक्लू टोपियां), जम्पर आदि पर कशीदे के काम भी इस कला के नमूने गिने जाते हैं। असल में घर-गृहस्थी को सजाने-बनाने में लोकमानस अनेक प्रकार के कला-तंत्र सीखता-सिखाता आया है। महिलाएं महीन रेशमी धागे बारीक सुइयों में पिरोकर, कशीदाकारी करते हुए अपनी चित्र-प्रतिभा की गवाही देती हैं। गांव में ये कला-कृतियां बड़ी एहतियात से सम्भाल कर रखी जाती है। कई बार देखने में आता है कि कपड़े तह में रखे-रखे, तार-तार हो जाते हैं। मेहमानों का आदर-सत्कार ही इस कला की बहुत बड़ी प्रेरणा लगती थी। परन्तु अब तो मशीनी कढ़ाइयों, लड़कियों-बेटियों में पढ़ने-लिखने और कमाने-खाने की सोच—ये कलाएं मशीनी-कारीगरी के हाथों में मुरझा गई है।

इन रूमालों, चोलियों, गिलाफों चादरों, गलीचों आदि पर कृष्ण-लीला, रास-लीला, राग-रागिनियों और पुराण-कथाओं के चित्रों की कढ़ाईयां होती हैं। वास्कटों और रूमालों (चोलियों में भी) में गोल पैसों जैसे शीशे भी कशीदे जाते। इससे ये वस्त्र और भी आकर्षक लगते हिमाचल उद्योग विभाग इस भूली-बिसरी कला-परम्परा को सम्भालने में जुटा है।

कुल्लुई. सिरमौरी और किन्नौरी टोपियां हस्तकला का एक अलग और अनोखा नमूना हैं। कुल्लू के शॉल-दुशाले, लाहौली नमदे, गलीचे, पट्टू वास्तुकला-सौष्ठव तथा परम्परा में पहाड़ी चित्रकला समान है। फटे-पुराने गूदड़ और कपड़े की कतरनों से, नए वस्त्रों में लिपटी गुड़िया बनाने की कला, वृद्धाओं की बेमिसाल प्रतिभा की निशानी है। इनका केश-विन्यास, मुखाकृतियां रूप-सौंदर्य. वेषभूषा इत्यादि वड़ी श्रद्धा और चित्रांकन-भावना से कशीदे जाते हैं। ऐसे ही रोज़ सोने-बैठने के लिए बनाई गई रजाइयां-दुलाइयां और बैस्कू (बिछौने) बड़े-बड़े कारीगरों को मात करते हैं। चम्बा और भरमौर के पट्टू व चादरें एक विशेष आकर्षण रखते हैं।

रंगाई-छपाई

हिमाचल में कपड़े रंगने का काम भी बढ़िया स्तर का रहा है। मिस्टर किपलिंग लिखते हैं—"यह कांगड़ा की असाधारण विशेषता है। यहां के छपे कपड़ों में दिल्ली के छपे कपड़ों में भी बेहतर सुन्दरता और सफाई मिलती है। यहां के घराहड़े और छीम्बे इस कला के सिरताज थे। विशेष रूप से पहाड़ी

लोग —गद्दी, पंगवाले, कोले, ढौगरी आदि इनके रंगे कपड़े ही पहनते थे। गद्दियों के चोले और लुआंचड़ियां इसके विशेष नमूने हैं। छींट और खद्दर रंगे जाने के बाद, मिल के आधुनिक कपड़ों को मात देते थे।

गहनों-आभूषणों की गढ़ाई

सुनारों का काम भी लोक कला का कोई कम नमूना नहीं। गद्दन के गहने—चक, फुलियां, राणीहार, चन्द्रहार, नत्थलू, वालु, वंगां, टोके, विच्छु, अंगूठियां, थिपू तो क्या? कुलुई, सिरमौरी, किन्नौरी, लाहौली, पंगवाली, जैसी जनजातियों के गहनों पर नज़र डालने से सिर चकराने लगता है। ऊंची जातियों में स्वर्ण-आभूषणों का रिवाज और इनके 'डिज़ॉयन' एक अलग परम्परा के साथ कला-रूपता का पता देते हैं।

बांस का काम

डोमनों का बांस का काम भी एक अलग कला-रूप है। खेती, घर-गृहस्थी और दूसरी साज-सजावटी चीज़ों पर लाल-पीले रंगों की चित्रकारी, इस जाति की कला-प्रियता की गवाही देते हैं। छिकू, पिटारे, डल्लां, टोकरियां पेड़ू, किरनियां, श्रृंगारदान, फूलदान, सिरकियां, कुर्सियां, मेज़, बुक-रैक इस कला के नमूने हैं। चमड़े के काम में भी लोक कला छिपी है। चम्बा की चप्पलें, तिल्लेदार जोड़े (जुटकू), पणियां, गादे-जुट्टे, किन्नौरी, सिरमौरी और लाहौली बूट अपने-अपने इलाके में कारीगरी के उत्कृष्ट गवाह हैं।

गोदना

हिमाचली जनजाति लोगों में गोदना परम्परा भी मिलती है। शरीर पर मोर, तीतर, मछली, फूल-पत्ते, घड़ी, चन्द्र, अर्धचन्द्र, सूरज चिह्न, नाम इत्यादि खुदवाकर संवरने-बनाने का एक अपना चाव मिलता है। मर्द-औरतें इस कला-परम्परा से बड़ा प्यार रखते हैं। मेलों-त्योहारों में इन कला कृतियों के अनोखे नमूने मिलते हैं। माथे, ठोड़ी, छाती, जांघ, बांह, गाल पर मशीनी-सुई की पीड़ा सहन करके, बदन पर गोदना गुदवाना इनके विश्वास के साथ तयूर लगाकर भी महिलाएं देह का बनाव-श्रृंगार बढ़ाती हैं। मेंहदी लगाना भी एक कला है। हाथों-पैरों को इस ढंग से सजाया-संवारा जाता है कि दर्शक घड़ीभर के लिए चित्रलिखित-सा हो जाता है।

भांडे, बर्तन और रलियां

कुम्हारों का काम—घड़े, पातड़ियां, चाटे, हंडू, पारू, दीदे, दीवटें, करूए

खेल-खिलौने इत्यादि—भी हस्तकला की धरोहर के अंग हैं। चिकनी मिट्टी की इन कला-कृतियों पर पीली-काली मिट्टी की फुलकारी आदि में, कई कला-रूप झांकते हैं। कांगड़ा में 'रलियां' (शिव-पार्वती की मूर्तियां) बनाने की कला भी बेमिसाल है। परम्परागत कलाकार इनके ऐसे चेहरे गढ़ते हैं जैसे बातें कर रहे हों। सच्चे फोटो लगते हैं। तीज-त्योहारों पर भान्ति-भान्ति के पकवान और ब्याह शादियों पर बने खानों, अनेक स्वाद भरी तरकारियां और खान पान, लोककला की अपनी अलग ही पहचान करवाते हैं।

मुहारे-मुखौटे व स्वांग

किन्नौर, लाहौल-स्पीति और सिरमौर-कुल्लू में मेलों-ठेलों, पर्व-त्योहारों पर मुखौटे लगाकर नाच-रंग करने की परम्परा भी मिलती है। दशहरे पर भी जगह-जगह रामलीला के कई दृश्य मुखौटे लगाकर और झांकियां निकाल कर प्रदर्शित किए जाते हैं। किन्नौर और कुल्लू में देव-मानव नृत्यों सम्बन्धी कई कथाएं सुनने को मिलती हैं। राक्षसी मुखौटे लगाकर, मनुष्य का देवताओं से युद्ध करना स्थानीय इतिहास व संस्कृतियों पर प्रकाश डालता है। विशेष मुखौटे बाहर से मंगाए जाते हैं। होली के मेलों पर पालमपुर व सुजानपुर में देवी-देवताओं की डोलियां निकलती हैं। इन्हें 'स्वांग' भी कहा जाता है। घुग्घर (पालमपुर) और बदले (पालमपुर) के दलों की तो स्वांग बनाने सजाने में हार-जीत होने लगती है। बच्चों-बच्चियों (जो देवी-देवताओं के कपड़े, गहने और श्रृंगार से सजे होते हैं) को लोग सीता-राम समझ कर माथा टेकते हैं/पैसे चढ़ाते हैं/और मनौतियां भी मानते हैं। स्वांग तैयार करना भी एक पहाड़ी लोककला का नमूना है।

सालोत्र, विष-वैद

सालोत्री (पशुओं की बंदनी) भी एक लोककला है। इसे कोई किसी स्कूल या अस्पताल में जाकर नहीं सीखता। यह पुरखों की कला है। ये घर-सीखे डॉक्टर उतरी, चढ़ी और टूटी हड्डियां बड़ी दक्षता से जोड़ते हैं। इसके लिए वे कोई अंग्रेज़ी दवाई या इंजेक्शन. सुइयों का प्रयोग नहीं करते। परन्तु देशी जड़ी बूटियों की मालिश करके, अपनी कला को सफल बनाते हैं। शरीरी-अशरीरी रोगों के लिए भी कई प्रकार के टोने-टोटके, टूने-टेसे, जन्तर-मंतर, धागा-डोरू करते हैं। सांप, बिच्छुओं के डंक (विष) डालियों-मंत्रों और धागों-डोरियों के ज़ोर से, उतारते देखे जा सकते हैं। बावले कुत्ते के रोगियों को ठंडे निर्झर का अभिमंत्रित जल पिलाकर, निश्चिन्त जीवन जीने में, सहायक बनते है। जोगियों-गारड़ियों की आराधना का कमाल और बाहरी, अशरीरी (लोक देवी-देवताओं के रूठने पर रोग) को पलक झपकते ठीक करने का दावा करते हैं।

हिनोप्लास्टरी

कांगड़ा में नाक की जगह पर नया नाक लगाने की परम्परा भी रही है। यह परिवार कांगड़ा भौणावाली माता के मन्दिर के समीप ही रहता था। इसको 'नकेड़ेयों का टोला' भी कहा जाता था। इनकी कला (हुनर) देखकर, बॉर्नस ने 'सैटलमेंट रिपार्ट' में लिखा है—"हिनोप्लॉस्टरी में कांगड़ा के सर्जनों (नकैड़ेयों) को बड़ा कमाल हासिल है। ये लोग कटा, फटा, सड़ा, बढ़ा नाक उतार कर, उसकी जगह नया तथा हू-बहू नाक लगा देते हैं। यह नाक वास्तविक नाक की तरह सूंघने और सांस लेने-छोड़ने का पूरा काम करता है। यह काम इतनी होशियारी से करते हैं कि मुंह की सुन्दरता पर कोई खराबी या विकार नहीं आता।" मैक्समूलर ने भी 'भारत से क्या सीखें' पुस्तक में लिखा है—"हिनोप्लॉस्टरी विद्या योरुप के सर्जनों ने विक्टोरिया के शासनकाल में भारतीय सर्जनों से सीखी।" सुन्दर नामक 'नकेहड़ा' बीसवीं सदी में बड़ा प्रसिद्ध रहा। उसके हाथों की सफाई की महिमा सब जगह फैली।

हिमाचली लोककलाओं का उपर्युक्त विवरण सोचने पर विवश करता है कि इस प्रदेश की लोककला की परम्परा, इतिहास, विशेषता, सुन्दरता, उपयोगिता और संस्कृति सम्बन्धी परख-पहचान की सामर्थ्य रखता है। ये कलाएं स्थानीय वासियों की अनमोल विद्याएं हैं। सर्वसुविधा सम्पन्न समाज, बदलती मान्यताओं, यन्त्र-युग और वैज्ञानिक चिन्तन में भी, ये कलाएं प्रेरणा और पूर्णता की प्रतीक हैं। और यह भी सच है कि किसी जाति, वर्ग, देश, प्रदेश, की भाषा, संस्कृति, लोकाचार, कलारूप हमेशा अलग-अलग रहते रहे। और इन्हीं के सहारे ही वह जाति, देश, सभ्यता फलते-फूलते संसार में अपना अस्तित्व बनाए रखते हैं।



डुग्गर की वास्तुकला : लोक कला संदर्भ

☐ निर्मल विक्रम

किसी भी प्रदेश की संस्कृति वहां की लोककलाओं में प्रतिविम्बित होती है। लोक कलाएं लोक जीवन के दर्पण में सदियों तक भासमान रहती हैं।

डुग्गर प्रदेश में लोककलाओं की एक समृद्ध परम्परा रही है। यहां कला के विभिन्न क्षेत्रों में नवीन आयाम खुले हैं। जिनमें चित्रकला तथा मूर्ति कला के अतिरिक्त वास्तुकला भी सम्मिलित है। जहां अन्य कलाओं में लोक मानस लोक विश्वास एवं लोक परम्पराओं की झलक हमें मिलती है वहां वास्तुकला पर भी लोक कला के प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता। निःसदेह, हर काल की वास्तुकला पर न केवल तत्कालीन शासकों के शिल्पज्ञान, रुचि एवं प्रभाव को स्पष्ट देखा जा सकता है अपितु शिल्पियों की कला में स्वतः उभर आई लोक-कलात्मकता भी कहीं न कहीं मुखर हो उठी दिखाई पड़ती है। विशेषकर प्रत्येक भवन अथवा महल के प्रांगण में हिन्दु शासक मंदिर अवश्य बनवाया करते थे। इन मन्दिरों में रखी प्रतिमाएं एवं मूर्तियां या भवनों की दीवारों पर की गई चित्रकारी अपने प्रदेश विशेष की कला का प्रभाव दर्शाती हैं। समय-समय पर हुए आक्रमणों तथा अनदेखी के कारण हम अपनी इस अमूल्य धरोहर को सहेज नहीं पाए। फलतः भवन आज ध्वस्त अवशेषों के रूप में उपलब्ध हैं।

वास्तुकला की दृष्टि से डुग्गर प्रदेश की इस कला को तीन प्रकार से विभक्त किया जा सकता है—

1. 13वीं शताब्दी के पहले से लेकर 17वीं शताब्दी तक बनाए गए भव्य महल, भवन तथा किले।
2. 13वीं शताब्दी से पूर्व निर्मित मंदिर।

3. जनसाधारण द्वारा अपने रहने के लिए बनाये गये, घर-मकान तथा भवन।

इस तथ्य को स्वीकारना पड़ता है कि शासकों द्वारा बनाये गये प्राचीन महलों तथा भवनों के अवशेषों में लोक कला के नमूने बहुत कम मिलते हैं। क्योंकि शासक अपनी इच्छा एवं रुचि के अनुसार इन भवनों का निर्माण करते थे। सम्भवत: विशेष कला की जानकारी रखने वाले शिल्पियों को वे, उनके मूल स्थानों से अपने साथ ले आया करते थे, इसीलिए स्थानीय शिल्पकारों अथवा कलाकारों को अपनी कला को उजागर करने का सुअवसर शायद बहुत कम मिल पाता होगा। यही कारण है कि विभिन्न महलों एवं भवनों पर तत्कालीन शासकों की वास्तु कला विशेष के प्रति रुचि की छाप स्पष्ट दिखाई देती है।

विशेष महलों की दीवारों पर बनाये गये भित्ति चित्र लोक कथाओं पर ही आधारित हुआ करते थे। किन्तु महलों की दीवारों के अवशेष तो खंडित रूप में उपलब्ध हैं पर यह चित्र कहीं भी समूचे उपलब्ध नहीं हैं।

13वीं शताब्दी से लेकर 17वीं शताब्दी तक का काल, मुगलों का शासन-काल है। इसी काल में भारत के अन्य भागों की तरह डुग्गर प्रदेश में भी उनके द्वारा बनाये गए भवन, सरायों मस्जिदों तथा किलों के अवशेष मिलते हैं जिन पर मुग़ल शैली की छाप स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। वास्तव में मुगल डुग्गर के रास्ते से कश्मीर जाया करते थे इसीलिए अपने विश्राम करने के उद्देश्य से स्थान-स्थान पर उन्होंने सरायें बनवाईं जिनमें म्होरगढ़, चिंगस तथा थन्ना मंडी की मुगल सरायें मुख्य हैं। ये सरायें मुगल सम्राटों द्वारा बनाई गई हैं। जो ठेठ मुग़ल वास्तुकला का नमूना हैं इन का निर्माण काल 16वीं शताब्दी माना जाता है। इनकी विशेषता-विशाल गोल गुम्बद, पतले स्तम्भ तथा विशाल खुले द्वार हैं।

मुगलों द्वारा बनाई गई मस्जिदों के अन्तर्गत राजौरी की जामा मस्जिद मुख्य है जिसे शायद जहांगीर ने बनवाया था।

म्होरगढ़ का किला--साम्बा कस्बे से करीब आठ मील दूर पहाड़ की ओर म्होरगढ़ का प्रसिद्ध किला है। इस किले के चार भाग हैं।

प्रसिद्ध कला मर्मज्ञ श्री विद्यारत्न खजूरिया के अनुसार यह किला लगभग 15वीं शताब्दी में बनवाया गया था। इस किले की किलेबन्द ड्योढ़ियों तथा दूसरे भवन के नमूनों से प्रतीत होता है कि यह किला 'सूर' वंश के ही किसी शासक ने बनवाया होगा।

श्री शिव निर्मोही का मानना है कि यह किला 1555 ई० में पंजाब तथा दिल्ली के शासक सिकन्दर सूरी ने सरहिन्द स्थान पर हुमायूं से पराजित होने के पश्चात् बनवाया था। सिकन्दर सूरी पंजाब का भी शासक था अतः उसे डुग्गर प्रदेश की भौगोलिक स्थिति का भी ज्ञान था। इतिहास में भी इस बात का उल्लेख मिलता है कि सिकन्दर सूरी हारने के पश्चात् शिवालिक की पहाड़ियों की ओर भाग निकला था।

इस किले के सिंह द्वार पर अरबी भाषा में लिखा हुआ एक खंडित लेख आज तक पढ़ा नहीं गया। ड्योढ़ी के ऊपर बने प्रत्येक शिखर पर कुरान शरीफ की आयतें खुदी हुई हैं। ड्योढ़ी की घिसी हुई मेहराब के शिखर पर कमल के फूल के चार सुन्दर नमूने बनाए गए हैं। इसी तरह के डिज़ाइन म्होरगढ़ के किले के दरवाजे पर भी बने हुए हैं।

बहरामगला का किला—जिला पुंछ के अन्तर्गत बहरामगला के किले के अवशेषों से प्रतीत होता है कि इसे भी जहांगीर ने ही बनवाया होगा।

मुगलों के अतिरिक्त सिक्ख-डोगरा शासकों द्वारा बनाये गये महल, दुर्ग तथा किले जिनमें बसोहली के राजमहल, जसरोटे के महल, चनैनी के महल, रामनगर तथा वन्दरालता के महल, रियासी के महल आदि मुख्य हैं। दुर्ग तथा किलों में मध्य युग तथा इसके पश्चात् स्थानीय राजाओं द्वारा बनाये गए अधिकांश दुर्ग नष्ट हो चुके हैं किन्तु उनके अवशेष अभी भी मिलते हैं। इन की कला संरचना भी भारतीय दुर्ग संरचना के साथ मेल खाती है। कई दुर्गों की दीवारें पक्की ईंटों तथा कई नानकशाही ईंटों से बनी हैं। दीवारें मोटी तथा चौड़ी है जिनमें तीर या गोली बारी के लिए झरोखे बने हैं।

तवी नदी के तट पर बना बाहु का किला, मस्तगढ़ जम्मू का किला, कपूरगढ़ दुर्ग, देवीगढ़ दुर्ग, जसमेरगढ़ दुर्ग, लखनपुर दुर्ग, थेहगढ़ दुर्ग बसन्तपुर, गाढ़ी दुर्ग, बिलावर दुर्ग, चिहाल दुर्ग, भड्डू दुर्ग, सुमरता दुर्ग, रामकोट दुर्ग, बाड़ीगढ़ दुर्ग, थलोड़ा दुर्ग, बसन्तगढ़ दुर्ग, चनैनी दुर्ग, किर्मची दुर्ग, जगाहनू दुर्ग, भद्रवाह दुर्ग, किशतवाड़ दुर्ग, पाडर दुर्ग, डोडा दुर्ग, डिगवाल दुर्ग, गुलाब-गढ़ दुर्ग पोगल दुर्ग, सलाल दुर्ग, मनावर दुर्ग, कलीस दुर्ग, मंगल दुर्ग, कठार दुर्ग, राजगढ़ दुर्ग, भारख दुर्ग, दरहाल दुर्ग तथा अमरगढ़ दुर्ग आदि शामिल हैं।

महलों में बसोहली के राजमहल, पहाड़ों के सात आश्चर्यों में से एक हैं। श्री केदारनाथ शास्त्री का मत है कि यह राजमहल भी मुगल वास्तुकला के

ही नमूने हैं। इनमें दरबार हाल, शीशमहल, रंग महल आदि कई कक्ष हैं। कुल्लू के महलों के समान ही दीवारों पर उच्चकोटि के भित्ति चित्र बने हैं। इन का निर्माण राजा अमृतपाल ने जिसका राज्यकाल 1553-76 ई० माना जाता है, उनके पौत्र राजा महेन्द्रपाल के समय में हुआ था।

अब यह महल जीर्ण अवस्था में उपलब्ध है। जसरोटे के महल कठुआ से 16 किलोमीटर पश्चिमोत्तर में घने जंगलों में, राजा जसदेव (1020-1053 ई०) में, उज्झ नदी के किनारे पर बनवाये थे। यह महल भग्नावस्था में हैं जो जम्मू के राजा रंजीतदेव के समकालीन राजा रत्नदेव के समय के बने हैं।

जसरोटा डुग्गर प्रदेश का एक समृद्ध तथा बलशाली राज्य था जिस पर 1399 ई० में तैमूर ने और 1594 में अकबर ने भी इस पर कई आक्रमण किए जिससे इसका वैभव नष्ट हो गया। 1845 ई० के बाद यह किला तथा महल पूरी तरह उजड़ कर रह गया।

गगनचुम्बी महल, तालाब, चौड़े बाज़ार, पक्की गलियां इस की वैभव कथा आज भी सुनाते हैं। यहां महलों के अतिरिक्त एक छावनी व कई सरायें भी हैं। नगर के प्रवेश द्वार जिस को 'गुमट' या 'दिल्ली दरवाज़ा' भी कहा जाता था, अच्छी हालत में है चाहे इसके प्राचीर जीर्णावस्था में हैं। पत्थरों की आधी-आधी दीवारें फर्श और मध्य में दस फुट के लगभग सड़क अच्छी स्थिति में है। कुछ दूर आगे तीन मंदिर हैं जो कदाचित शिव एवं विष्णु के रहे होंगे। आज वहां ऐसा कुछ देखने को नहीं मिलता।

पूर्व की ओर भव्य भवन का मात्र आकार स्थित है, जिस की छत या खिड़कियां दिखाई नहीं देतीं। यह शायद शस्त्रागार रहा होगा। यह महल 2.-25 एकड़ तक फैले हैं तथा इन्हें तीन भागों में विभक्त करने पर दो मंज़िला महल, जिसमें भूमिगत कमरे, शानदार आंगन तथा क्यारियों के निशान आज भी मिलते हैं। दीवारों पर अत्यधिक चमकीले चूने का पलस्तर है उन पर बने भित्ति चित्र अब मिट गए हैं।

उत्तर की ओर की प्रासाद शृंखला इन महलों से कुछ पुरानी हैं तथा यह वास्तुकला का उत्कृष्ट नमूना है। यह महल सम्भवत: राजा कृपालदेव ने बनवाए थे।

'चनैनी के महल' के बारे में इतिहासकार चनैनी के राजाओं का सम्बन्ध चन्देरी राजवंश से जोड़ते हैं। कहा जाता है कि 9वीं शताब्दी में गम्भीर चन्द ने इस राज्य की स्थापना की थी।

1. चनैनी के वर्तमान महलों का निर्माण रंजीतदेव के समकालीन शमशेर

चन्द हिंताल ने करवाया था। यह महल इस समय पूरी तरह ध्वस्त हो चुके हैं पर इनमें पहाड़ी वास्तुकला की झलक मिलती है।

महाराजा गुलाबसिंह के छोटे भाई सुचेत सिंह ने रामनगर के महलों का निर्माण करवाया था। एक ओर यहां मुगल कला की छाप है और दूसरी ओर पहाड़ी तथा मुगल कला का मिश्रित रूप। रामनगर कसबे की स्थापना 1000वीं सदी में चम्बा वंश के शासकों ने की थी।

राजा सुचेतसिंह कला एवं वास्तुकला के विशेष पारखी थे, इसलिए अपने शासनकाल में उन्होंने पुराने स्मारकों का पुनरूद्धार किया। इनमें शीश महल, नमांमहल, पुराना महल तथा किला सम्मिलित है।

रामनगर महल 30 कनाल भूमि में फैला है। प्रवेश द्वार के दाईं ओर दरबार हाल, शीश महल एवं रंग महल है। दरबार हाल को भित्तिचित्रों से सुसज्जित किया गया है जिसमें चित्रकारों ने पहाड़ी चित्रकला का खूबसूरत नमूना संजोया है, देखने को मिलता है।

बन्दरालता के महल रणवीरसिंह के छोटे बेटे रामसिंह ने (1852-1900) बन्दरालता का जागीरदार बनने के पश्चात् बनवाए थे। यह महल सुचेतसिंह के महलों से छोटे हैं परन्तु वास्तुकला की दृष्टि से उत्कृष्ट एवं संगठित हैं। इस महल के भीतर खुला आंगन है और चारों तरफ रिहायशी कमरे है। इन कमरों में तीन शयन कक्ष तथा कमरों को गर्म रखने के लिए अंगीठियां बनाई गई थीं। इन महलों के भित्तिचित्रों में भी रामायण एवं भागवत के चित्र बनाए गये हैं। स्वर्गीय विद्यारत्न खजूरिया इन महलों के चित्रों को कांगडा कलम के काफी नजदीक मानते हैं। उनका यह भी कथन है कि यह किला पुराने बन्दराल काल के किले की नींव पर निर्मित वास्तुकला की दृष्टि से इस किले पर मुगल कला की छाप प्रतीत होती है। यह किला आकार में छोटा होने से यों लगता है जैसे राज-परिवार की आपत्काल में सुरक्षा हेतु इसका निर्माण किया गया।

रियासी के महल, वास्तुकला की दृष्टि से साधारण हैं जिन्हें महाराजा गुलाबसिंह ने निर्मित करवाया था। भीमगढ़ के किले पर मुगल शैली की छाप है।

14वीं शताब्दी में पठानकोठ विजय करने की खुशी में राजा मल्लदेव ने पुरानी मंडी की बारादरी बनवाई थी। वास्तुकला की दृष्टि से इस का कोई स्थान नहीं है। राजा ध्रुवदेव ने मुबारक मंडी (दरबारगढ़) में भी कई महल बनवाए थे, जिसका राज्यकाल 1703-1725 ई० था। रंजीतदेव ने भी कई महल बनवा कर जम्मू का नवीकरण किया था।

2, मंदिरों की श्रेणी में 13वीं शताब्दी से पूर्व अथवा प्राक मुस्लिम

काल में जितने भी मंदिर निर्मित हुए वह सभी आर्य शैली के हैं। इनकी विशेषता यह थी कि इनके चबूतरे ऊपर बनाये जाते थे तथा मूर्ति की स्थापना हेतु बनाये गये ताकत्रों के आगे से खुला स्थान छोड़ दिया जाता था। गर्भगृह में मूर्ति स्थापित की जाती थी जिस की छत ठोस वक्र-रेखात्मक तथा कोणदार शिखर समान होती थी। यह शिखर ऊपर से छोटा होता था। सबसे ऊंचे स्थान पर आमलय हुआ करता एवं उसके ऊपर कलश तथा ध्वजदण्ड होता तथा मन्दिर की चारों ओर परिक्रमा पथ होता था।

आर्य शैली में निर्मित मंदिरों में बबौर, बलौर का हरिहर मंदिर, थड़ा कलेयाल का शिव मंदिर, सुद्ध महादेव, किर्मची के मंदिर एवं अम्बारां के खण्डहर दर्शनीय हैं।

बबौर के मन्दिर—डुगर प्रदेश की उत्कृष्ट एवं विकसित कला के सुन्दर नमूने हैं। जम्मू से 64 एवं मानसर झील से 5 किलोमीटर दूर पूर्व दिशा में, बबौर तवी नदी के तट पर स्थित है।

जहां प्राप्त मंदिरों के अवशेष इसका प्रमाण देते हैं कि यह स्थान किसी समय में डुगर प्रदेश की राजधानी रहा होगा। राजतरंगिणी में भी इसका उल्लेख मिलता है। पुरातत्ववेता वोगेल भी बम्बपुर नामक स्थान को ही बबौर मानते हैं। श्री सूरज सराफ का मानना है कि पहले इस स्थान पर 13 मंदिर थे। फेड्रिक ड्रियूना नामक अंग्रेज यात्री ने 1870 ई० के लगभग अपने यात्रा विवरण में यहां तीन वड़े पक्के मंदिरों का उल्लेख किया है। छ: मन्दिरों के खंडहर आज भी इस स्थान पर मौजूद हैं। इन मंदिरों के निर्माण हेतु शिल्पियों द्वारा बड़े-बड़े घड़े हुए पत्थरों, स्तम्भों तथा धरनों का प्रयोग किया है। बड़े-बड़े पत्थर एक दूसरे के ऊपर बिना चूने या सीमेंट के लेप से इस ढंग से जमाए गये हैं कि सदियां बीत जाने के पश्चात भी वह वैसे ही स्थित हैं।

यहां के दो मंदिर जिनमें देवी का मंदिर तथा काला देहरा मंदिर सुन्दर प्रतिमाओं के लिए प्रसिद्ध हैं। देवी के मन्दिर में द्वार स्तम्भ पर लगभग एक मीटर ऊंची गंगा की मूर्ति है। जो उत्कृष्ट मूर्तिकला का प्रतीक है। इस मंदिर के गर्भगृह का द्वार मूर्तियों एवं बारीक नक्काशी से सजाया गया है जो दर्शनीय है।

काला देहरा मन्दिर सबसे बड़ा है तथा यह शिव मन्दिर माना जाता है।

यह मन्दिर बब्बपुर के शासकों द्वारा निर्मित माने जाते हैं। प्रो० गौरी-शंकर के अनुसार एक मन्दिर की दीवारों पर 1126 शक् सन 1204 के समय

में निर्मित बैजनाथ मन्दिर की ही तरह शारदा लिपि में एक शिलालेख भी मिलता है।

अनुमान है कि इन मंदिरों का निर्माण कार्य दसवीं शताब्दी से आरम्भ होकर 12वीं शताब्दी तक चलता रहा होगा। इनका निर्माता कीर्तिधर माना जाता है जिसने कश्मीर के कलात्मक मंदिरों के आधार पर इन मंदिरों को बनवाया। इस शासक का शासन काल 1063-89 था।

निस्सन्देह यह मन्दिर शतप्रतिशत रूप से कश्मीर के मन्दिरों से नहीं मिलते, फिर भी इनमें कश्मीरी वास्तुकला के दो-तीन अंशों का समावेश अवश्य मिलता है। प्रसिद्ध पुरातत्ववेता रामचन्द्र काल के अनुसार झिरीदार स्तम्भ, कम पल्लव वाले शिखर तथा नरमुंड पक्षी कश्मीरी वास्तुकला के मुख्य अंश हैं, जिनका इन मन्दिरों में समावेश है। बबौर के राजा सम्भवत: भारत के अन्य प्रांतों की यात्राएं करते रहे होंगे तभी अन्य मन्दिरों के वास्तुशिल्प का अध्ययन करके एक नई वास्तुकला को इन मन्दिरों में प्रस्तुत किया। यह राजा शक्तिशाली थे, सम्भवत: उन्होंने भव्य महलों का भी निर्माण करवाया हो किन्तु वह समय के साथ-साथ नष्ट हो गए। बलौर के हरिहर मन्दिर इण्डो-आर्यन शैली का है तथा डुग्गर प्रदेश की समृद्ध वास्तुकला का प्रतीक है। इस मन्दिर की सब से बड़ी विशेषता यह है कि इस मन्दिर पर अन्य दूसरे मन्दिरों की वास्तुकला का प्रभाव बहुत कम है। यह मन्दिर डुग्गर की एक स्वतन्त्र स्थापत्य कला का अवशेष प्रतीत होता है।

इस मन्दिर के चौकोर गर्भगृह के ऊपर सुन्दर गोल शिखर है जिस पर उभारदार नक्काशी की गई है, किन्तु यह मन्दिर इस समय जीर्ण अवस्था में है। इसके शिलापट्टों पर की गई नक्काशी कला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसकी दीवारों पर बेल-बूटों की नक्काशी दर्शनीय है तथा गर्भगृह के भीतर चोटी पर पूरा खिला हुआ कमल बना है। मन्दिर के भीतर सुन्दर आले हैं तथा शिखर के ऊपर उभरे हुए अलंकारों की सजावट है।

श्री केदारनाथ शास्त्री के अनुसार बलौर के मन्दिर का बाहरी आकार भुवनेश्वर के लिंगराज तथा राजरानी के मन्दिर के साथ कुछ-कुछ मिलता है।

इस मन्दिर की मूर्तियों की विशेषता है कि वह काले पत्थर से गढ़ी गई हैं।

इस मन्दिर के निर्माण के साथ जुड़ी दन्तकथाओं के अनुसार इन का निर्माण पांडवों द्वारा किया गया भी माना जाता है। इन को बबौर के मन्दिरों के लगभग समकालीन ही माना जाता है। बबौर तथा बलौर के मध्य केवल

30 किलोमीटर की दूरी है। सम्भवत: बवौर की वास्तुकला से प्रेरित होकर राजा आनन्दराज ने इसका निर्माण करवाया हो। आनन्दराज का शासनकाल पुरातत्त्व शास्त्रियों के अनुसार 12वीं सदी ही है।

थड़ा कलेयाल का शिव मन्दिर तथा अन्य सूरज मन्दिर का निर्माण शिल्प बलौर के मंदिर से मिलता-जुलता है। मन्दिर के भीतर 1½ मीटर लम्बा तथा एक मीटर चौड़ा एक बड़ा चबूतरा है जिस पर शिव तथा पार्वती की मूर्ति रखी गई है। यह मूर्ति चट्टान को तराश कर बनाई गई है। तक्षण कला की दृष्टि से इसका अपना विशेष महत्त्व है। डुग्गर प्रदेश में शिव-पार्वती की उपासना किया जाना और इन मन्दिरों में शिव-पार्वती की प्रतिमाओं का होना, लोक-विश्वास को उजागर करता है। शिव मन्दिर के पास ही मध्य के ताकचे में सूर्य की प्रतिमा है। चूने का प्रयोग होने के कारण यह मन्दिर मध्ययुगीन लगता है।

अनुमान हैं कि 12वीं शताब्दी में ही यह मन्दिर सोमन्तक जाति के जागीरदार द्वारा निर्मित बलौर के मन्दिर की ही अनुकृति है।

स्थापत्य कला की दृष्टि से किर्मची के मन्दिर डुग्गर की उन्नत वास्तुकला के नमूने हैं। यह मन्दिर त्रेट नामक स्थान पर 'विरुआं' उपनदी के तट पर स्थित है। जीर्णावस्था में खड़े यह पांचों मन्दिर पुरातत्ववेताओं के लिए ज्ञान का अपूर्व भंडार लिए खड़े हैं।

यह मन्दिर भी इण्डो-आर्यन शैली के हैं। जिनके शिल्प को भुवनेश्वर के लिंग राज मन्दिर के समान माना जाता है। इन का निर्माण भी बड़ी-बड़ी शिलाओं को तराश कर किया गया है।

इनके निर्माण के बारे में भिन्न-भिन्न धारणाएं हैं। स्व० विश्वनाथ खजूरिया के अनुसार इनका निर्माण लगभग दो हज़ार वर्ष पूर्व कुशान वंश के विख्यात राजा कुशान के राज्यकाल में हुआ था।

किन्तु कई इतिहासकार मानते हैं कि इनका निर्माण वज्रधर ने ही करवाया था तथा उसके पुत्र उमाधर ने इसको सम्पन्न किया। केवल इसके पुष्ट प्रमाण नहीं मिलते। इनके शिखर बेलनाकार दिखते हैं पर बवौर के शिखर सीढ़ीनुमा आकार के हैं। इनका निर्माणकाल 10वी-11वीं शताब्दी भी माना जाता है। अनुमान है शैवमत के प्रचार हेतु यह मन्दिर भी बवौर के राजाओं ने ही बनवाए होंगे, किंवदन्ती के अनुसार यह मन्दिर पांडवों द्वारा बनाये गए भी माने जाते हैं।

पहले मन्दिर के आगे कोई तीस फुट लम्बा तथा पीछे लगभग दस फुट लम्बा छोटा आंगन है। इसका एक स्तम्भ अंबरी रंग तथा दूसरा

कत्थेई रंग के पत्थरों से बना है। यह मन्दिर कोई 50 फुट ऊंचा है।

बीच के मन्दिर का आकार अन्य मन्दिरों से भिन्न है।

तीसरे मन्दिर के भीतर कुछ मूर्तियां अभी भी विद्यमान हैं जिनमें से कुछ सही सलामत हैं तथा कई खंडित। शिव की एक आदमकद प्रतिमा है तथा एक मूर्ति गणेश जी की है। मन्दिरों की वाहरी दीवारों पर टेढ़ी किस्म की धारियां तथा झिरियां उत्कीर्ण की गई है।

अखनूर के पास, अम्बारां के थेह नामक स्थान से कुछ खिलौने, शिव तथा सूर्य की त्रिमूर्तियां गांधार शैली की प्रतिमाएं जिनकी पुष्टि डा० चार्ल्स फावेरी ने की है, प्राप्त हुई। अम्बारां के अवशेष हड़प्पा के अवशेषों से मेल खाते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि डुग्गर प्रदेश का इतिहास सदियों पुराना है।

सुद्ध महादेव वास्तव में शिव स्थान है जिसके मन्दिर के प्रांगण में गढ़े हुए त्रिशूल पर छठी अथवा सातवीं शताब्दी का ब्राह्मी लिपि में लिखा एक लेख अंकित है तथा नागराजा विभुनाग का नाम भी खुदा है। मन्दिर के बाहरी भाग में पानी के चश्मों के चबूतरे के ऊपर एक अति प्राचीन काले रंग की यक्षिणी की मूर्ति है जिसके बारे में अनुमान है कि यह प्रतिमा भी उतनी ही प्राचीन है जितना शिव का त्रिशूल।

इस स्थान पर नाग सभ्यता के अवशेष वहां की बावड़ियां तथा अन्य स्थानों पर उपलब्ध हैं।

ऐसे ही अतिप्राचीन मन्दिरों के अवशेष लड्डन ग्राम नामक स्थान पर भी मिले हैं।

लड्डन ग्राम के मन्दिरों के समूह के बारे में अनुमान है कि वह मन्दिर गुप्तकालीन हैं परन्तु इन मन्दिरों के भीतर-बाहर स्थित मूर्तियों की कला शैली पुराण, रामायण तथा महाभारत के कथा प्रसंगों पर आधारित है किन्तु इनके प्रकारों से नाग संस्कृति के पुरावेशों से सम्बद्ध माना जा सकता है।

इस स्थान पर एक देवी मन्दिर के चारों तरफ चार मन्दिरों के प्लेंथ अभी भी उपस्थित है, जिससे यह स्थान बबौर तथा किर्मची के मन्दिरों की ही तरह ब्राह्मणकाल का पंचदेव उपासना स्थल प्रतीत होता है। इस मन्दिर में स्थित मूर्तियों के चेहरे मंगोलों से मिलते-जुलते हैं। दीवारों के प्रस्तर पर नक्काशियों के साथ लोककला के प्रतीक ढोलवादकों के चित्र हैं।

मन्दिर की कुछ मूर्तियां वाममार्गी भी हैं। जो खजुराहों आदि मन्दिरों का सहज स्मरण करवा देती है।

भद्रवाह, रियासी, पौनी, गूल तथा करलाह् नामक स्थानों पर लकड़ी के मन्दिर तथा मूर्तियां भी उपलब्ध होती हैं। यह मन्दिर 'कैहल' तथा 'देवदार' की लकड़ी से बनाये गये हैं। भद्रवाह के 'गाठा' गांव में वासुकी नाग के मन्दिर उदाहरणार्थ लिए जा सकते हैं।

रियासी में 'संगरोट' के ऊंचे इलाके में तथा सलाल के पास चरियाना में देवता के मशहूर मन्दिर हैं। करलाह नामक स्थान पर बाबा 'गोआह' का मन्दिर भी प्राचीन सभ्यता तथा संस्कृति का प्रतीक है।

तृतीय श्रेणी में जनसाधारण द्वारा अपने रहने के लिए बनाये गए घर, मकान तथा भवन मुख्य रूप से आते हैं।

सदियों से मनुष्य अपने सर पर छत की आकांक्षा करता आया है। इस घर, मकान भवन आदि को रहने के योग्य बनाने के लिए यथाशक्ति उनको सुन्दर बनाने के प्रयास करता रहा है।

डुग्गर प्रदेश में अधिकतर घर मिट्टी लकड़ी फूस तथा पत्थर के बनाये जाते रहे हैं। जो लोक कला का अनूठा प्रदर्शन है। जो इनकी बाहरी दीवारों पर की हुई चित्रकारी, ताकचों, लकड़ी की छत्तों को सहारा देने के लिए स्तम्भों पर की गई नक्काशी तथा लोक विश्वासों को दर्शाते देहरे, देहरियां, देव स्थान तथा मूर्तियों आदि में मिलता है।

धार्मिक अनुष्ठान तथा त्यौहारों आदि पर सजावट के तौर पर घर के प्रवेश द्वार को भिन्न-भिन्न चित्रों से सजाना, जिनमें तोता, मोर, फूल, बेल-बूटे, डोली, गमले स्वास्तिक आदि होते हैं, वास्तविक जीवन के साथ जुड़े रहने के कारण पौराणिक काल से लेकर आधुनिक काल तक डुग्गर प्रदेश के ग्रामीण इलाकों में पाये जाते हैं। बाहरी दीवारों पर सूरज, चांद, बिल, तारे, चिड़ियां, बत्तख, हाथी आदि के चित्र आज भी 'नडड' गांव के आस-पास मिलते है। नाग संस्कृति से सम्बन्धित कई अनुष्ठान, मूर्तियां तथा चित्र घरों में आज भी पाये जाते हैं।

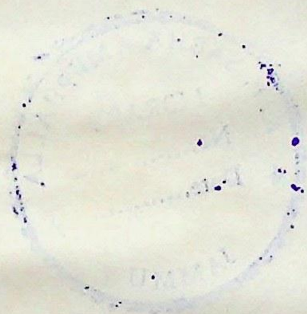
पुराने समय के राजा-रजवाड़ों तथा जमींदारों की हवेलियों में कई किस्मों के भित्ति चित्रों से सजी हुई दीवारें, उनके अवशेषों के रूप में आज भी समृद्ध वास्तुकला एवं उस पर लोकात्मकता के प्रभाव को दर्शाती हैं।

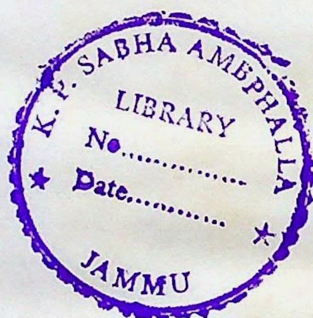
इस प्रदेश का कुछ भाग पहाड़ी होने के कारण, वहां घर अक्सर उपलब्ध लकड़ी से ही बनाये जाते हैं। छत ढलानदार होती हैं तथा इनके फर्श जमीन से दो-तीन फुट ऊंचे नीचे लकड़ी या पत्थरों की टेक लगाकर खड़े किए जाते हैं। भद्रवाह, सुद्ध महादेव आदि स्थानों में ऐसे मकान आसानी से देखने को मिल जाते हैं।

जम्मू का कंढी इलाका, जिसमें अधिक गर्मी होने की वजह से अधिकतर घर मिट्टी, लकड़ी तथा फूस के बनाए जाते हैं। पुराने मकानों की डेढ़-दो फुट चौड़ी दीवारें, लकड़ी की छतें, जिनके ऊपर मिट्टी डाल कर पक्का कर दिया जाता है तथा काफी गहरे ताकचे आज भी जम्मू के पुराने शहर तथा कई गांवों में मिलते हैं।

डुग्गर प्रदेश के भवन शिल्प पर लोकात्मकता का प्रभाव केवल उन स्थानों पर ही हमें अधिक मिलता है जो स्थान जनसाधारण से अधिकतर जुड़े रहे हैं। चाहे वह मन्दिर हों, जहां स्थापित की गई मूर्तियां लोक विश्वासों को दर्शाती हैं। ये शिलाएं तराश कर बनाई गई हैं, जिनमें लोक कलाकारों के शिल्प ज्ञान का आभास होता है। किन्तु लोक कलाकारों की मूर्तियों में उपस्थित जो सहज भाव उनकी प्रतिमाओं में झलकता है वह ललित कलाकारों की मूर्तियों में नहीं दिखता।

कला कोई भी हो उस का ह्रास सहज सम्भव नहीं। किंतु लोक कला अपने अनगढ़ अनूठे सौंदर्य के कारण काल प्रवाह की शाश्वतता स्वीकार करके भी अपनी मुखरता में कहीं न कहीं शेष बनी हुई है। □









Published by the Secretary on behalf of J & K Academy of Art, Culture & Languages, JAMMU.
Printed at Rohini Printers, Kot Kishan Chand, JALANDHAR (Pb.)